यौवन के द्वार पर

देवराज उपाध्याय

८१४.८
देवा यौ

पुस्तक का नाम :-

यौवन के दुवारा पर (ललित निबंध)

प्रकाशन की तिथी :-

जुलाई 1970

जिस पुरस्कार के लिए प्रेषित :-

ललित निबंध

लेखक का नाम तथा पता :-

डा॰ देवराज उपाध्याय,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महाराणा भूपाल कालेज
उदयपुर

देवराज उ०

डा॰ देवराज उपाध्याय

यौवन के द्वार पर

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

डॉ० देवराज उपाध्याय

सौभाग्य प्रकाशन, उदयपुर

आमुख

बचपन के बाद किशोरावस्था आती है अर्थात् व्यक्ति जीवन के समरक्षेत्र में संकटों एवं अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए शक्ति-संचय करने की तैयारी करने में संलग्न हो जाता है। पक्षी शावक के पंख उग आए हैं और वह आकाश में उड़ान लेने के लिए अपने पंख को तोलने लगता है। कभी गिरता है, कभी चोट खाता है, कभी सफल होता और इसी तरह शक्ति बटोरता हुआ आगे बढ़ जाता है। 'यौवन के द्वार पर' में इसी तरह के किशोर की हिचकती, ठिठकती, गिरती-पड़ती, लड़खड़ाती मुद्रा का चित्रण प्राप्त होगा। वह मात्र 'बच्चा' ही नहीं रह गया, वह स्वयं कुछ करके देखना चाहता है। भले ही गलती करेगा पर वह होगी उसकी अपनी, पिता या माता से उधार ली हुई युक्ति नहीं।

उर्दू में कहीं एक शेर पढ़ा था :

बरस पन्द्रह या सोलह का सिन
मुरादों की रातें, जवानी के दिन।
कहां फिर वे रातें कहां फिर वे सिन
मसल है कि है चांदनी चार दिन।

ठीक यही स्थिति 'यौवन के द्वार पर' की तथा 'जवानी की राह पर' की है। बचपन के दिन में एक स्कालर बालक बन गया है अर्थात् पीछे की ओर मुड़कर देखने की चेष्टा की गई है पर यहां पर दृष्टि आगे की ओर है। इसमें उमंग है, उत्साह है, उल्लास है, कहीं भी विषाद, अवसाद या विपन्नता की बात नहीं है। यदि आई भी है तो वह विकसित होने वाली जवानी की धूमधाम में छिप गई है। पाठक पढ़ें और देखें कि कहीं वे इस प्रवाह में अपने को भी प्रवाहित तो नहीं पाते हैं। मेरा विश्वास है कि वे अपने को वहां अवश्य पायेंगे। यदि उनमें इस तरह की अनुभूति जग सकी तो और क्या चाहिए जिसकी चिंता की जाए।

—देवराज उपाध्याय

अनुक्रम

चलचित्र और स्मृतियाँ

मुझे इस बात की तो पूरी स्मृति है कि कब मैंने यह महसूस किया कि मैं भी कुछ हूँ, मेरा भी कुछ अस्तित्व है, दूसरे की कृपा पर रहने वाला मिट्टी का पुतला मात्र नहीं हूँ, बल्कि ऐसा व्यक्ति हूं जिसके स्वतन्त्र अस्तित्व को दूसरे भी स्वीकार करते हैं। मुझे वह दिन खूब याद है जबकि मैं अपने एक पड़ोसी की दालान में रात-भर सोया पड़ा रहा और किसी ने भी खोज-पूछ नहीं की कि मैं कहाँ हूँ। प्रातःकाल घर आने पर भी माता-पिता ने कोई विशेष जिज्ञासा के भाव प्रकट नहीं किये। मानो जो कुछ हुआ है सो सहज है, इसमें कोई असाधारणता नहीं। नहीं तो होता यही था कि जहाँ संध्या हुई और मैं घर नहीं आया कि मेरे लिये दौड़-धूप आरम्भ हो जाती थी और मैं चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य में व्यस्त होऊं, कौड़ी खेलता होऊँ या पतंग ही उड़ाता होऊँ उसे छोड़कर घर रूपी कारागार में बन्द हो जाना पड़ता था। पर उस दिन जो किसी तरह की चिन्ता मेरे लिए किसी ओर से नहीं प्रदर्शित की गई, ऐसा लगता है कि मैं आदमी बन गया, मेरे अस्तित्व को मान्यता मिली, मेरे स्वतन्त्र जीवन को स्वीकृति मिली।

पर मैं किस दिन जवान हुआ, यह आज तक जान नहीं पाया। कभी जवान हुआ या नहीं, या आज भी जवान नहीं ही हूँ, इसका भी ठीक ज्ञान नहीं है। यद्यपि साठ वर्ष के आसपास मँडरा रहा हूँ, पर उसी तरह खाता हूँ, पीता हूँ, डटकर काम करता हूँ, लोगों में बैठकर रंग-रस की बातें कर लेता हूँ, बल्कि कुछ ज्यादा ही जीवन के सपने आज भी घेरे हुए चलते ही हैं। तब मैं अपने को बूढ़ा क्यों मान लूं? भाई मनोरंजन के शब्दों को क्यों न याद करूँ कि "**कहने को बुढ़ापा है, कहने को जवानी है।**" जवानी या बुढ़ापा केवल नाम-मात्र है। न कोई बूढ़ा होता है और न कोई जवान होता है। मनुष्य वह है जो सोचता है। मैंने २५ वर्ष के बूढ़ों को देखा है और ६० वर्षों का जवान भी। जिसने सट्ठा और पट्ठा की तुक मिलाई होगी वह होगा तो कवि ही, वह एक बहुत ही पते की बात कह गया था।

जिस तरह आज मैं बैठा-बैठा उस दिन को खोज रहा हूँ जिस दिन यौवन के द्वार पर—आँगन के द्वार पर नहीं—पैर रखा उसी तरह एक उर्दू के शायर भी अपने यौवन के आरम्भ-दिवस को ढूँढ़ रहे थे। यह मत समझिए कि मैं ही एक निट्ठला व्यक्ति हूँ जो इस तरह की सारहीन, व्यर्थ, तुच्छ बात की ऊहापोह में

समय बरबाद कर रहा हूँ । नहीं, बहुतों ने ऐसा किया है। सभी ऐसा करते हैं । सभी उन दिनों की याद को सँजोना चाहते हैं जो शायद अब आने वाले नहीं हैं।

भवभूति के राम की जवानी कुछ ढलान पर आई तो उन्हें भी पुराने दिन याद आने लगे । उन्होंने कहा :

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसागताः ।।

पिता जी जीवित थे, नई-नई शादी हुई थी और हमारी आवश्यकताओं की सारी चिन्ता मातायें करती थीं । हाय ! वे सुख के दिन चले गये। अब लौटने वाले नहीं हैं। उर्दू के शायर से किसी ने उसकी जवानी की कैफियत माँगी होगी तो उसने यही कहा कि :

बचपन गया अलामते पीरी अयाँ हुई ।
मैं मुनतिजर ही रह गया अहदे शबाब के ।।

अर्थात् बचपन के समाप्त होते ही बुढ़ापे ने आ घेरा, मैं तो जवानी की प्रतीक्षा ही करता रहा। पता नहीं वह कब आई और कब चली गई, वह आई भी या नहीं, पता नहीं । उसी तरह आज तक मुझे पता नहीं चल सका कि कब मैं जवान हुआ।

लोग यौन-भावनाओं के स्पष्ट आविर्भाव को यौवन के आगमन की सूचना मानते हैं । समझा जाता है कि विपरीत लिंगी व्यक्तियों के लिए किसी व्यक्ति में आकर्षण का प्रादुर्भाव देखो तो अनुमान कर लेना चाहिए कि वहाँ पर जवानी की स्थिति है। एक कथा मेरे छोटे भाई के बारे में सुनने को मिलती है। कहा नहीं जा सकता कहाँ तक सही है । मेरा छोटा भाई आरा नगर में ठीक उसी मकान में रह कर शिक्षा प्राप्त कर रहा था जहाँ मैंने भी अपने स्कूल के दिनों में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी। वहीं पर पड़ोस की एक लड़की थी जो प्रायः आया-जाया करती थी । एक दिन पिताजी ने मेरे छोटे भाई को उस लड़की में रुचि लेते देखा। बस, कहा मेरा लड़का अब जवान हो गया। आगे की फिक्र करनी चाहिए। मुझे पता ही नहीं कि उनकी नजरों में मैं कब जवान हुआ। यौन-आकर्षण ही जवानी का चिह्न है तो मुझे ऐसा कोई समय याद नहीं जब मैं यौन-भावनाओं से मुक्त होऊँ। जहाँ तक मेरी स्मृति मुझे खींचकर ले जाती है वहाँ तक मैं अपने में उसका अस्तित्व पाता हूँ । जब से मुझ में चेतना जागृत हुई, जब से मुझ में सोचने-समझने की शक्ति आई तभी से यौन-भावना की स्थिति भी आई। मेरे प्रारम्भिक जीवन की कुछ प्राचीनतम स्मृतियों में यौन-भावना की स्मृति है ।

हाँ, यह याद है कि लड़कियों की संगति मुझे विशेष प्रिय नहीं थी । इसका अर्थ यह नहीं कि मैं उनके सम्पर्क में आता नहीं था। आता तो था, कभी-कभी उनके साथ खेल-खाल भी लेता था पर मुझ में ऐसी प्रवृत्ति नहीं थी कि मैं उनसे

सम्पर्क साधने के लिए, विशेष कष्ट करूं। बाल्य-जीवन की जो महत्त्वपूर्ण चेष्टायें अथवा आन्दोलन होते हैं, कल्पनायें होती हैं, उनमें उनको सहभागी बनाऊँ तथा अपने गुप्त मनसूबों में उनसे सहयोग लेने का प्रयत्न करूँ। मेरी स्मृति के कोश में एक ही घटना सुरक्षित है जबकि मैंने अपनी बड़ी बहन की सहायता से एक लड़के को पीटा था। शायद और भी इस तरह की घटनायें घटी हों पर आज वे मानस-पटल से धुल-पुँछ गई हैं। यही नारी-जगत् के प्रति उदासीनता के प्रमाण हैं। यदि मुझ में नारी के प्रति विशेष रूप से आकर्षण की भावना रहती तो लड़कियों के साथ सम्पर्क की अनेक घटनायें याद रहतीं। लड़कों के साथ के व्यापारों का अक्षय भंडार मेरे मानस में सुरक्षित है। पर लड़कियों की झलक मात्र है, यद्यपि यह झलक भी है बहुत सुन्दर और ज्योतिर्मय। एक बात तो ठीक तरह से याद है। लड़कों का लड़कियों के साथ या लड़कियों का लड़कों के साथ अधिक मिलना-जुलना या खेलते रहना बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कहना तो यही चाहिए कि हिकारत की दृष्टि से देखा जाता था। संभव है गुरुजनों के वचनों का भी प्रभाव हो। जहाँ कहीं भी हम लोग लड़कियों को लड़कों के साथ खेलते हुए देखते कि उन्हें चिढ़ाना आरंभ कर देते थे :

बेटवा में बिटिया घुलेल खेले ले।
भर मांग सेनुरा जियान करे ले॥

अर्थात् लड़के के साथ लड़की खेल रही है। मांग भरे हुई सेन्दूर को व्यर्थ ही बरबाद कर रही है। अतः यौन आकर्षण को लेकर कुछ नवयुवकों में जो एक पागलपन-सा सवार रहता है उसका आखेट तो मैं कभी नहीं रहा। पर मैं यौन-आकर्षणों से मुक्त भी कभी नहीं रहा, न तब था और न आज हूँ। मेरी जवानी की चादर पर यौन-आकर्षण की छींटे नहीं पड़े हैं, यह तो नहीं कहता पर यह दावा अवश्य करता हूँ कि मेरा दामन औरों से अधिक पाक जरूर रहा है। जब कभी भी गलती से या जानते-बूझते ही मेरी चादर पर छींटे पड़े हैं मैंने तुरन्त उसे साबुन से साफ किया है, प्रायश्चित्त किया है, अपने को दंडित किया है, उपवास किया है, अपने गुरुजनों के सम्मुख स्वीकार कर व्यवस्था माँगी है। मैं जिस समय जवान हो रहा था उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्य-समाज की विचारधारा का हमारे सामाजिक जीवन पर बड़ा प्रभाव था। मैंने दयानन्द सरस्वती को न कभी देखा और न उनका भाषण ही सुना। पर स्व० श्रद्धानन्द का भाषण सुना है। उस गौरवर्ण, गेरुआ वस्त्रधारी, दिव्यवपु, ज्योति-पुंज संन्यासी के दर्शन किये हैं। श्री नारायण स्वामी के तो भाषण अनेक बार सुने हैं। उनके भाषणों का मुझ पर प्रभाव था। आज चाय मैं पी जरूर लेता हूँ पर आसक्त नहीं हो सका हूँ, कभी-कभी अपने साथियों के बीच ही पी लेता हूँ तो इसका कारण यही है कि चाय और मेरे बीच में श्री नारायण स्वामी की

मूर्ति खड़ी हो जाती है । मैंने पटने में चाय के विरुद्ध उनका एक बड़ा ही ओजस्वी भाषण सुना था । तभी से चाय के प्रति एक विरक्ति-सी आ गई । आज जब चाय का प्याला होठों से लगाता हूँ तो ऐसा लगता है कि कहीं श्री नारायण स्वामी देख न रहे हों ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों में ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त प्रमुख था । वे ब्रह्मचर्य को बहुत महत्त्व देते थे । वे वेदों तथा उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मचर्याश्रम की पुनर्प्रतिष्ठा करना चाहते थे और इसी उद्देश्य से देश में गुरुकुलों की स्थापना की थी, जिनमें विद्यार्थी विधिवत् ब्रह्मचारी रहकर २५ वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करता था । तत्पश्चात् हर तरह से उपात्त-विद्य होकर सर्वोपकार-क्षम गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था । मेरे पिता जी ने भी एक बार मुझे गुरुकुल में भेजने की योजना बनाई थी पर न जाने क्यों वह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी । मुझ पर भी ब्रह्मचारी बन कर देश और राष्ट्रसेवा के लिए शारीरिक तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न होकर चरित्रवान् बनने की कल्पना का बहुत प्रभाव था । मैं मन ही मन नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की कल्पना किया करता था । जब कभी भी परिस्थितियों के कारण इस कल्पना पर आघात होता था मुझे बड़ी ही आत्मग्लानि होती थी । बहुत-से ऐसे अवसर आये (और सब के जीवन में आते ही रहते हैं) जिनमें मेरी कल्पना में नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की कल्पना को बड़ी ही कठिन परीक्षा की घड़ियों का सामना करना पड़ा और मैंने यथाशक्ति उनका सफलतापूर्वक सामना किया । मैं यदि पूर्ण ईमानदारी से बातें करूँ तो यह तो नहीं कह सकता कि सदा सफल ही रहा, पर बहुत अंश तक मुझे सफलता प्राप्त हो सकी और जो कुछ भी सफलता प्राप्त हो सकी है उसका बहुत कुछ श्रेय आर्यसमाज के तथा सनातन धर्म के समारोहों में सुने गये भाषणों को है ।

आज भी आर्यसमाज जीवित है और औपचारिक रूप से उसके समारोह सम्पन्न होते रहते हैं । पहले जिस उत्साह के साथ इन समारोहों में सम्मिलित होता था वैसा तो अब मैं नहीं करता क्योंकि मैंने सुनना जो बन्द कर दिया है । मैं इस परिस्थिति में नहीं हूं कि निश्चयात्मक रूप से कहूँ कि हमारे जातीय जीवन या राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है, नवयुवकों के चरित्र-निर्माण में इनका क्या कृतित्व रहता है, पर मेरी धारणा यह है कि इनका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ता । कम से कम इतना तो निश्चित ही है कि इनके प्रभाव में पूर्ववर्ती निर्माणक्षमता नहीं है । कारण क्या है—प्रभावग्रहण करने वाले नवयुवक ही बदल गए हैं अथवा अनुग्राहक उपदेशकों में ही परिवर्तन आ गया है, कहना कठिन है । शायद दोनों ही बदल गए हों । पर जिस युग में आज से ४० वर्ष पूर्व, मैं यौवन के प्राङ्गण में प्रवेश कर रहा

था, उस समय तो प्रभाव पड़ता ही था। १९२१ में जब से गांधी जी ने देश में असहयोग का शंखनाद फूंका तब से १९३५ तक तो कांग्रेस और आर्यसमाज में कोई अन्तर ही नहीं था। यह अवश्य है कि कांग्रेस राजनीतिक संस्था थी और आर्यसमाज सामाजिक या धार्मिक, पर दोनों के कार्यक्रम इस तरह एक हो गए थे कि दोनों के अंतर तिरोहित से हो गए थे। गांधी जी ने सरकारी स्कूलों तथा कालेजों से निकल कर राष्ट्रीय कालेजों तथा स्कूलों में पढ़ने के लिए छात्रों को सलाह दी थी, विदेशी वस्त्रों का परित्याग कर स्वदेशी वस्त्रों को धारण करने के लिए कहा था, सरकारी नौकरियों तथा उपाधियों का परित्याग करने के लिए कहा था। इन सब कार्यक्रमों को आर्यसमाज ने अपना लिया था। केवल इतना ही कहा जाता था कि ये सारी बातें तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पहले ही सत्यार्थप्रकाश में कह दी थीं। मुझे याद है कि आरा नगर जहां मैं स्कूली शिक्षा प्राप्त कर रहा था वहां एक स्थान था (अभी भी है) जिसका नाम था बाजारी शाह का गोला। वहीं पर भाषण होते थे। उस स्थान से मेरे कुछ बड़े ही रागात्मक तथा भावात्मक संबंध जुड़े हुए हैं। इसलिए जुड़े हुए हैं कि इसके पास ही सटा हुआ आरा मॉडल इन्स्टीट्यूट हाई इंग्लिश स्कूल था जहां मैंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की थी। यही वह स्थल है जहां पर मेरे जीवन की नींव पड़ रही थी, मैं सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। आज जो कुछ भी हूँ, अच्छा या बुरा, जो कुछ कर सका हूँ या नहीं कर सका हूँ, या बन सका हूँ या बिगड़ सका हूँ वहीं पर तय हो रहा था, वहीं मैं बन रहा था और बिगड़ रहा था। वहां पर मैंने अच्छाइयां भी सीखीं और बदमाशियां भी। वहीं पर मैंने जीवन के वे सपने देखे जो आज भी घेरे चले जा रहे हैं, आज भी मेरे जीवन को रूप प्रदान कर रहे हैं। बदमाशियों की चर्चा अभी नहीं करूंगा। उनकी चर्चा यथावसार होगी। पर मैं चला हूँ यह देखने कि मैं कब जवान हुआ और वे कौन-कौन-सी क्रियायें या प्रतिक्रियायें थीं जो मुझे जवान बना रही थीं। इसीलिए मैं इन चालीस-पैंतालिस वर्षों की दूरी को लांघकर अपने स्कूल के प्रांगण में प्रवेश कर रहा हूँ और इस स्कूल के प्रांगण के प्रवेश-द्वार पर पहुँचने के लिए बाजारी शाह के गोले से होकर जाना पड़ता है और उस बाजारी शाह के गोले के पास पहुँचने के लिए देवी जी के मंदिर से होकर जाना पड़ता है जहां हम लोग नित्य दर्शन के लिए जाया करते थे। मेरे संस्कृत के अध्यापक थे श्री भवानी मिश्र। उन्होंने मुझे देवी से प्रार्थना करने के लिए एक श्लोक कण्ठस्थ कराया था :

देवि प्रपन्नार्ति हरे प्रसीद प्रसीद मातः जगतोखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वम् त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ।।

आज भी ठीक से पता नहीं कि कहां का श्लोक है, यह शायद दुर्गासप्तशती का है।

इसी मंदिर से करीब ४० गज की दूरी पर किसी सेठ की गद्दी थी जिस पर और लोग तो बैठते ही थे पर वहां पर मसनद के सहारे एक बड़ा ही सुन्दर गौरांग कान्तिमय मुखारविन्द बालक बैठता था। मैं सच कहता हूँ कि वैसी सौम्य, प्रभावोत्पादक, आकर्षक, मोहक, मानव आकृति मैंने नहीं देखी। वह अपनी फिटन पर चढ़कर करीब ९ बजे प्रातःकाल मेरे वासस्थान से होता हुआ अपनी गद्दी पर जाता था। हम सब घड़ी देखकर उसके सड़क से होकर निकलने की राह देखा करते थे। जब वह निकलता, हम लोगों के हृदय में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती थी, और यह याद रखिए इस दर्शन-व्यापार में हम ही अकेले नहीं थे पर मुझ से बहुत बड़े लोग मोहन जी, बलराम जी भी सम्मिलित रहते थे। कहना तो यही चाहिए कि मुझ से अधिक इन्हीं लोगों को उस किशोर को देखने की उत्सुकता रहती थी। यह तो नहीं कह सकता कि स्वलिङ्गी व्यक्ति के प्रति जो एक मोहक आकर्षण होता है उससे मैं अनभिज्ञ था। नहीं, सारे व्यापारों से खूब परिचित था। पर इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे आकर्षण में बालसुलभ चापल्य की मात्रा ही अधिक थी, उछल-कूद ही अधिक थी, किसी सुन्दर वस्तु के प्रति सहज प्यार की भावना ही अधिक थी। पर, अब मुझे समझ में आता है कि इन लोगों के आकर्षण में सीमा को अतिक्रमण करने वाले वेग की उद्दामता थी, जला देने वाली दाहकता थी।

इस बालक की आनन्दप्रदायिनी गद्दी के १०० गज पहले एक वेश्या की कोठी थी। आरा नगर सुन्दरी, नवयुवती, नृत्य एवं संगीतकला में पारंगत वेश्याओं के लिए प्रसिद्ध था। इन वेश्याओं का वहां के जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। मैं जिस मुहल्ले में रहता था, मेरे घर के पास कितनी ही वेश्यायें रहती थीं। रात को १२ बजे तक इन वेश्याओं के यहां से गीत की मधुर-ध्वनि तथा तबले की गड़गड़ाहट की आवाज आती रहती थी। हम लोग मन ही मन उन संगीतों की ताल, सुर और लय का अनुकरण भी करते थे। इन वेश्याओं के पेशे के बारे में तो हमारे अच्छे भाव नहीं थे पर हम स्पष्ट देखते थे कि इन का समाज में आद भी कम न था। ये बड़ी धर्म-परायणा होती थीं, पूजा-पाठ करती थीं, दान-पुण्य करती थीं, पुरोहित जी को बुलाकर दान-दक्षिणा देती थीं। धार्मिक अवसरों पर मंदिरों में जाकर भगवान् के सामने नृत्य करना और गाना उनके धार्मिक अनुष्ठान का अंग था।

आरा में एक बहुत प्रसिद्ध मुहल्ला है महादेवा। वहाँ पर महादेव जी का बहुत ही सुंदर मंदिर था। वह है तो आज भी पर निरादृत-सा, मानो कोई देखने वाला नहीं, जरा भी रौनक नहीं। पर उस समय वह ज्योति से चमचम करता था। खासकर सोमारी मेले के अवसर पर तो वहाँ की ज्योति अनिवर्च-नीय हो जाती थी। उस समय बिजली के लट्टू अवश्य नहीं थे फिर भी जब

दीपावलियाँ जगमग करती थीं और उसके मध्य में मूर्ति को सजा कर रखा जाता था, शिव की मूर्ति के सामने नन्दी के मंत्रमुग्ध रूप के दर्शन होते थे तो लगता था कि कैलास-पर्वत स्थित स्वर्गलोक ही यहाँ पर सिमट कर आया है। इसी स्वर्गोपम वातावरण में जब नवयौवन-सम्पन्न वेश्यायें भक्तिभाव से शिव की मूर्ति के सामने आकर विह्वल कंठ से गाने लगतीं और उन्मुक्त भाव से नृत्य-मग्न हो पद-संचार करतीं तो साक्षात् अप्सराओं का अवतार होता। मैं तो न जाने किस स्वप्नलोक में विचरण करने लगता।

मैं आज विश्लेषण करता हूँ कि मैं जो उस वातावरण में इतना तन्मय हो जाता तो क्या उसमें कामुकता थी ? कामुकता शब्द का प्रयोग यहाँ पर मैं स्थूल शारीरिक वासना के अर्थ में कर रहा हूँ। यदि उसके सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक अर्थ को लें तो ऐसे प्रश्न का अवसर ही नहीं रहता। वह तो हर सुखद, आनन्दमय, उत्साहवर्द्धक व्यापारों में सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहती ही है। ये पंक्तियां जो अभी लिखी जा रही हैं, बीती घटनाओं की याद की जा रही है, उनके कारण जो एक तरह की सुखद अनुभूति हो रही है, उनके भावन तथा सृजन में जो आनन्द आ रहा है उसे भी काम से सम्बद्ध किया जा सकता है। पर इस समय मैं वैसा कर नहीं रहा हूं। मैं कामुकता का प्रयोग स्पष्ट रूप से उस अर्थ में कर रहा हूं जिसमें भिन्न-लिंगी प्रिय व्यक्ति के स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन तथा शारीरिक उपभोग की कामना प्रधान रहती है। उपभोग का प्रयोग मैं स्थूल अर्थ में ही कर रहा हूं। किसी दार्शनिक या तार्किक अर्थ में नहीं।

मैं यहां भोग शब्द को क्यों ले बैठा ? बात कुछ अप्रासंगिक-सी लगती है न। पर इसके तात्कालिक इतिहास को जान लेने पर इस अप्रासंगिकता के दोष का कुछ परिहार हो जाएगा। अभी जो दो घंटे क्लास में भाषण देकर आया तो गला दुखने लगा। अभी जुकाम से पूर्णरूप से मुक्ति नहीं मिली थी कि क्लास में लेक्चर देना पड़ा। गले का दुखने लगना स्वाभाविक था। यों मैं चाय पीने का शौकीन तो नहीं हूं, भरसक इससे बचने की चेष्टा करता हूं पर मन में ऐसा हुआ कि चलो कैन्टीन में चलकर चाय पी जाय, शायद गले को थोड़ी राहत मिले। कैन्टीन क्या, उसे मयखाना ही समझिये :

ये मयखाना है वजो जम नहीं है,
यहां कोई किसी से कम नहीं है।

बस क्या था, बातें छिड़ गईं। एक नवयुवक जिसने कहा, "चित्रलेखा कहती है कि भोग ही आनन्द है।" आप जानते ही हैं कि नवयुवक लोग भोग की बातें करते हैं। वह नवयुवक ही क्या जो भोगानन्द की बात न क ें। भोग करे या न करे पर भोग की बात जरूर करे। वह बुढ़ापा ही क्या जो भोग को दार्शनिक रंग से न ंग दे। अतः मेरा बुढ़ापा बोल उठा,

है, दुख का भी, सुख का भी। भोग तो एक मनोवृत्ति है। आपकी प्रिया आपको आलिंगन, परिरंभण, चुम्बन देती है तो उसका आप उपभोग करते हैं पर उसकी जूतियां भी तो उतनी ही प्यारी होती हैं, उपभोगनीय होती हैं। सुख भगवान् की देन है, अतः उपभोग्य है। अतः दुख भी भगवान की देन है तो उसकी औपभोगिक योग्यता में कौन-सी बाधा है? वास्तव में हम उपभोग किसी का नहीं करते केवल हल्की सांवेदनिक अनुभूतिमात्र प्राप्त करते हैं, बस।"

अतः जब मैं यहां पर भोग की बात करता हूं तो शारीरिक संपर्क के अर्थ में कर रहा हूं, जैसा जवान लोग प्रायः करते हैं और मेरे ये नवयुवक मित्र अभी कर रहे थे। मैं इस संस्मरण के अवसर पर थोड़ा जवान हो गया हूं और वैसी मनोवृत्ति भी हो गई। लिखता हूं जवान की तरह पर विचार करता हूं अब की तरह (वृद्ध की तरह नहीं क्योंकि मुझे पता अभी तक नहीं चला कि मैं जवान या वृद्ध हूं, पर तब की तरह तो हूं नहीं। यदि कुछ हो सकता हूं तो अब की तरह हो सकता हूं)। अतः यदि अटपटी, बेतुकी, अकथनीय, साहित्यनर्ह्य बातें कह जाऊं तो क्षंतव्य हूं। मुझे खूब मालूम है कि मैं जो यहां लेखन-कार्य में प्रवृत्त हुआ हूं, उसमें व्यक्तिगत बातों का उल्लेख करना मेरा उद्देश्य नहीं। मैं एक साहित्यिक कृति की सृष्टि करना चाहता हूं जिसमें निजता तो हो, वैयक्तिकता हो, ये तो निबन्धों के श्रृंगार हैं पर उसमें व्यक्तिगतता न हो। वैयक्तिकता एक अलग वस्तु है और व्यक्तिगतता अलग। पर मैं इस समय बड़ी कठिन परिस्थिति में हूं। अब का व्यक्ति (कह लीजिए वयोवृद्ध, केवल वृद्ध नहीं, क्योंकि यदि वह वृद्ध है तो केवल इसीलिए कि उसकी उम्र कुछ ज्यादा हो गई है), लिख रहा है लेकिन उसे प्रेरित कर रहा है, लिखा रहा है, डिक्टेट कर रहा है तब का व्यक्ति अर्थात् ४० वर्ष पूर्व का व्यक्ति अर्थात् नवयुवक। मतलब कि स्वामी—आज्ञा देने वाला तरुण है और आज्ञा का पालन करने वाला वृद्ध। ऐसी परिस्थिति में उलझनें पैदा हों यह तो स्वाभाविक ही है। स्वामी और सेवक के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण, आपसी खींचातानी, स्वामी की आज्ञा की प्रवृत्ति एक ओर, सेवक की अनुज्ञा-प्रवृत्ति दूसरी ओर—ऐसी सूरत में जो चित्र सामने आयेगा उसमें साहित्यिक सौष्ठव, समानुपात, सामंजस्य की सुव्यवस्था कैसे आ सकती है? उन्हीं दिनों की बात है, मेरे दादा जी एक लोकोक्ति प्रायः कहा करते थे :

लड़िका मालिक बूढ़ दीवान।
ममिला घचडल सांझ विहान।।

अर्थात् मालिक लड़का हो, कम अवस्था वाला हो और उसका दीवान यदि वयोवृद्ध हो तो मामिला (कार्य) प्रातःकाल और सायंकाल सदा बिगड़ा करे ही। बस उसी "लड़िका मालिक, बूढ़ दीवान" वाली परिस्थिति से हमारा यह

प्रयत्न गुजर रहा है। इसके लिए खुदा हाफिज। मैं आश्वस्त नहीं हूं कि मैं साहित्यिक गौरव के उच्चशिखर से कभी नीचे नहीं उतरूंगा।

भोगलिप्सा तथा कामलिप्सा के विवेचन के झमेले में मूल प्रश्न छूट ही गया कि मंदिर में वेश्याओं का नृत्य और संगीतजन्य आकर्षण, स्थूल भोगात्मक वासना का विनिग्रहण था। कैसे कहूं कि उस आकर्षण का सच्चा स्वरूप क्या था ? पर एक बात तो अवश्य सही है कि उसमें वैसा कुछ अवश्य था जो स्थूल वासना की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, जो आध्यात्मिक भले ही न हो पर अध्यात्म सहोदर अवश्य था। मैंने महादेवा मंदिर में एक बार, स्पष्ट याद है, एक देवी को भाव-विह्वल नृत्य-गीतानुरक्ता देखा था। उस देवी के वर्णन में किन शब्दों का प्रयोग करूं, त्रिजगन्मनोज्ञा कहूं ? श्रोणिभारादलस-गमना वह अवश्य नहीं थी, पर पक्व बिम्बाधरोष्ठी अवश्य थी। वह निर्वात, निष्कम्प दीपशिखा-सी थी। कालिदास ने पार्वती के वर्णन में—उस पार्वती के वर्णन में—जो धीरे-धीरे कमल की पंखुड़ियों की तरह विकसित हो रही है अथवा—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां,
वासो साना तरुणार्करागम्,
पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा
संचारिणी पल्लविनी लतेव।

पार्वती के संबंध में जो कुछ कहा है उससे भी संतोष नहीं होता। तब क्या यह श्लोक उद्धृत करूं ?

भवति कमल-नेत्रा नासिका शुभ्रदन्ता
अविरल कुच-युग्मा दीर्घकेशी कृशाङ्गी,
मृदुवचन-सुशीला नृत्यगीतानुरक्ता
सकल तनु सुवेशा पद्मिनी पद्मगंधा।

कवि ने यहां पर जितने विशेषणों का प्रयोग किया है वे सब उस देवी के शरीर-सामीप्य से अपने को धन्य कर रहे थे, यह मैंने साक्षात् देखा। दीर्घकेशी के बारे में नहीं कह सकता क्योंकि उसके जूड़े बंधे हुए थे। पर सच पूछिए तो इस श्लोक से भी मुझे पूर्ण संतोष नहीं होता।

हां, एक श्लोक का स्मरण हो रहा है पर कठिनाई यह है कि वह पुरुष-सौंदर्य का जयोच्चार कर रहा है, नारी-सौंदर्य की सुषमा का नहीं। रघु जवान हो रहे हैं, अभी जवान हुए नहीं हैं। जवानी निष्ठा-प्रत्यान्त विषय नहीं, कृत् प्रत्यान्ताश्रयीभूत है। क्या आपने ऐसे किशोर या किशोरी को देखा है जो यौवन के प्रवेश-द्वार पर ठिठक कर खड़ा हो या खड़ी हो। नहीं देखा हो तो चलिए मेरे साथ कवि के पास। क्योंकि कवि जिसको अपनी आंखों से देखे और हमें

न दिखाए तब तक तो कोई चीज सुन्दर होने से रही। चांद भी तब तक सुन्दर नहीं था जब तक कवि ने उसे निहारा नहीं। ये तारे जो चमचमाये उसी कवि की आंख की चमक लेकर। तब चलिए कालिदास के पास इस संकटकालीन स्थिति में वे अवश्य सहायक सिद्ध होंगे। रघु यौवन के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं। कालिदास कहते हैं :

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद् यौवन-भिन्न शैशवः पुपोष गांभीर्यमनोहरं वपुः॥

बस यही यौवन-भिन्न शैशव गांभीर्य मनोहर वपु की कल्पना कीजिए, इतना ही ध्यान रखिए कि यह मूर्ति पुरुष की नहीं, नारी की है। बस यही मूर्ति उस देवी की होगी जिसके वर्णन के लिए मुझे कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहा है। मनोवैज्ञानिकों ने आजकल एक शब्द का बड़ा प्रचार किया है, विचित्र अर्थवत्ता से उसे समन्वित कर दिया है। वह शब्द है यौवन प्राप्त (Adolescent) क्या यह कहूं कि वह देवी ऐसी लड़की थी जो यौवन-प्राप्त अवस्था (Adolescent Period) से गुजर रही थी? आज जब उस अनवद्याङ्गी तनुमध्या, सुवसना, सर्वाभरण-भूषिता, नीलोत्पलसमगन्धा रमणी को स्मृति-पटल पर लाता हूं तो मेरी कल्पना के पद थक जाते हैं। और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' का वह प्रसंग याद आ जाता है, जहां पर नागनाथ ने चन्द्रलेखा के स्त्री-शरीर के महत्व पर प्रकाश डाला था। **"प्रकृति के जड़ तत्त्वों का जितना सुन्दर और सामंजस्य पूर्ण संघात मानवदेह है उतना और कुछ भी नहीं है। मानव देह में भी किशोरावस्था का शरीर सर्वोत्तम है। उसमें सब कुछ विकसित भी हो गया होता है और क्षयोन्मुख भी नहीं होता। क्रम-वर्द्धमान किशोर मानव देह प्रकृति के जड़ तत्त्वों का सर्वोत्तम संघात है। इसको आश्रय करने वाला मन उदार होता है। किंतु किशोर मानव देह में भी पुरुष देह की अपेक्षा स्त्री देह अधिक रहस्यमय, अधिक प्रभावशाली और अधिक औदार्य-सम्पन्न होती है। देवी, स्त्री देह प्रकृति का साक्षात् प्रतिनिधि है, वह विधाता की सिसृक्षा का मूर्तिमान विग्रह, वह जगत-प्रवाह का मूल उत्स है।"**

इसीलिए मेरा मन मुझ से यह प्रश्न करने के लिए मचल उठा है कि जिसकी आकृति, वर्ण, रेखा, कोमलत्व के अपूर्व सौंदर्य को देखकर मेरे अन्तर्तत्त्व की आनन्द-ग्रंथि खुलने लगती थी, मेरा मन पिघल कर जिसके अस्तित्व में विलीन हो जाना चाहता था, उसे केवल भोगेच्छा मात्र कह कर संतोष कर लिया जाय और कालिदास की इस उक्ति को झुठला दिया जाय :

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये, न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

बाह्य सौंदर्य और आन्तरिक प्रवृत्तियों के मांगलिक सामंजस्य की जो विग्रहवती मूर्ति मेरे सामने उपस्थित थी उसे भोग-प्रेरकता के लांछन से कभी दूषित नहीं

करूंगा। मैं यह तो दावा नहीं करता कि आज मेरी दृष्टि स्फटिक निर्मल हो गई है और मैं सब व्यतीत की घटनाओं को वास्तविक रूप में देखने की सामर्थ्य प्राप्त कर चुका हूं पर सृजन काल में तो दृष्टि में थोड़ी-बहुत स्वच्छता आ जाती है। यह विनाश काल है नहीं कि बुद्धि के विपरीत होने का भय हो। यह सृजन वेला है जब कि मनुष्य सद्‌विवेकोन्मुख हो ही जाता है, सद् का कुछ न कुछ साक्षात्कार करता ही है। लोगों को आश्चर्य होता है और मुझे भी हुआ है कि वैसे मनुष्य जिनका जीवन आपादमस्तक अपराध में गर्हित पापमय कर्मों में आकंठ निमग्न रहता है, उनकी लेखनी से शुभ्र, ज्योतिर्मय, जीवनदायिनी साहित्य धारा किस तरह परिस्फुटित होती है। है तो रुग्ण पर लिखता है बलवान की तरह। है तो चोर पर लिखता है साधु की तरह। उसका जीवन तो है विषमय पर उसकी लेखनी है अमृत की पयस्विनी। इस विरोधाभास का एक ही समाधान है कि व्यक्ति और सृजक एक नहीं है। दो पृथक् जीव हैं। जिस समय लेखक की लेखनी सक्रिय होती है वह इस जगत् से अलग, कल्पतरु में नीड़ बना कर निवास करने लगता है। मैं यहां जवानी की बातें कर रहा हूं। अतः एक उर्दू की कविता याद आ रही है। इसलिए भी याद आ रही है कि उसका संबंध भी जवानी से ही है। वह कविता है :

अकाबी रूह जब बेदार होती है जवानों पर
नजर आता है उसका घोंसला तब आसमानों पर
कहीं तेरा नशेमन कश्रे सुल्तानी के गुम्बद पर
तू साही है बसेरा कर पहाड़ों की चट्टानों पर।

उसी तरह जब व्यक्ति पर सृजक की रूह बेदार होती है तो वहां सत्त्वोद्रेक होने लगता है और तम का ह्रास होने लगता है। अतः, मैं सच्चे अर्थों में लेखक भले ही न होऊं पर लिख तो रहा ही हूं, सृजन तो कर ही रहा हूं। अतः, न लेखक लेखक-बन्धु ही सही, न writer सही Psuedo writer ही सही। अतः, सत्त्वोद्रेक का कुछ दावा तो कर ही सकता हूं।

मैं महादेव जी के मंदिर में मूर्ति के सामने विनय भावापन्न नृत्य-गीतानुरक्ता नारी का अवलोकन कर रहा हूं। प्रथमतः, तो हमारे संस्कार के कारण वहां के वातावरण में ही पवित्रता रहती है, वहां प्रवेश करते हुए कुछ कलमष धुल जाते हैं, स्वच्छता आ जाती है। मस्जिद में बैठकर खुदा के सामने शराब पीने वाले होते हैं जरूर, पर वे बड़े साहसी होते हैं। मैं वैसा साहसी न तब था और न आज हूं। मुझ में कहीं भी किसी तरह की असाधारणता नहीं तो विशेषता कहिए नहीं है। जब मेरी श्रवण-शक्ति सर्वथा लुप्त हो गई तो इस बात की आस लगाए बैठा था कि प्रकृति की ओर से क्षति-पूर्ति होगी। यदि एक शक्ति का ह्रास हुआ तो दूसरी की वृद्धि होगी। स्मरण-शक्ति समृद्ध होगी, मस्तिष्क

प्रौढ़ हो जाएगा पर यह सब कुछ भी नहीं हो सका। मैं आज भी विघ्नवाहिनी की कल्पना कर किसी कार्य को आरम्भ करते हुए डरता हूं। इसीलिए कह सकता हूं कि उस पवित्रौदार्य-सम्पन्न धार्मिक वातारण में किसी कल्मष की कल्पना नहीं कर सकता था। द्वितीयत:, स्वामी दयानन्द के पवित्रतावादी उपदेश ने मेरे हृदय में नारियों के प्रति विचित्र संभ्रम के भाव उत्पन्न कर दिए थे। मैं उन्हें घृणा की दृष्टि से तो नहीं देखता था, जैसा कबीर इत्यादि सन्तों ने घृणा करने के लिए उपदेश दिया था। नहीं, उनके प्रति आर्यसमाज ने आदर के भाव ही उत्पन्न किए थे। पर आजकल विशेषत: यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव के कारण नारियों के प्रति खुलकर रहने की जो प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है वह नहीं थी। पर्दा-प्रथा की खूब निन्दा की जाती थी, नारियों को पुरुषों की तरह समानाधिकार के पक्ष का खूब समर्थन किया जाता था, उन्हें सैनिक-शिक्षा देने की भी व्यवस्था की जाती थी। आज आर्यसमाज के उत्सवों पर जिस तरह लड़कियां अपने व्यायाम इत्यादि का प्रदर्शन करती हैं, वह तो उस समय भी था। इतना ही है कि आज की तरह फैशनपरस्ती अभी घर नहीं कर पाई थी। इस तरह नारियों के प्रति मेरे हृदय में जो भाव बनते जाते थे उनमें सन्तोचित कट्टरता तो न थी, मैं इस पर कतई विश्वास नहीं करता था कि **"नारी की झांई परे अन्धा होत भुजंग।"** पर अभी तक कहीं-न-कहीं इसके प्रति आस्था थी ही कि—**"वे बपुरा कैसे जिये जे नित नारी के संग।"** अत: नारी-संग को या अधिक खुले शब्दों में कहें तो प्रसंग को मेरा पराहम् त्याज्य अवश्य समझता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने ऐसी अनेक विषम परिस्थितियों का सामना सफलता पूर्वक किया है, जहां बड़े-बड़े सिद्ध-मुनि जिनकी तपस्या भी भंग हो जाती है। वैसी परिस्थिति का सामना यदि आज करना पड़े तो मेरी दशा क्या हो, सफल होऊं या चारों खाने चित्त होकर धराशायी हो जाऊं, कह नहीं सकता। ऐसी सूरत में यह निश्चित है कि महादेवा के मंदिर में नृत्य-गीत-परायणा जिस नारी की चर्चा मैं आज करने बैठा हूं उसके प्रति उत्पन्न भावों को स्थूल भोगेच्छा मात्र नहीं कहा जा सकता।

इस अनुमान का समर्थन एक ओर से मुझे मिल रहा है। उन दिनों मेरे चरित्र की प्रमुख विशिष्टता थी, जिसकी चर्चा मैं लोगों से उस समय करता भी था। आज तो नारियों के प्रति हमारे भावों, विचारों तथा व्यवहारों में बहुत परिवर्तन हो गए हैं, और हम में उदारता भी आई है। पर आज से अर्द्धशताब्दी पूर्व कुछ बात ही दूसरी थी। नारियों का पर्दे में रहना अधिक शालीनता का लक्षण समझा जाता था। पुरुषों की भी प्रवृत्ति यही रहती थी कि यथासाध्य नारियों के सम्पर्क में न आया जाय। क्योंकि इसके कारण उनकी चारित्रिक दृढ़ता पर आघात पहुंचता है ऐसा विश्वास था। पर मुझ पर तो नए युग का

रंग चढ़ा था। मैं नारियों के समानाधिकार वाले सिद्धान्त में विश्वास करता था और नारियों से मिलने-जुलने में संकोच नहीं करता था। बल्कि कहना तो यही चाहिए कि उनके सम्पर्क में आने के अवसरों का सोत्साह स्वागत करता था। यह बात तो मेरे अभिभावकों तथा कुछ बुजुर्ग साथियों को भी अच्छी नहीं लगती थी। जिस समय मैं बुजुर्ग साथी शब्द का प्रयोग करता हूं उस समय मेरे नेत्रों के सामने स्व० राम विभीषण उपाध्याय की मूर्ति उपस्थित हो जाती है। उनकी चर्चा मैं कभी दूसरे अवसर पर करूंगा। वे मुझ से ज्ञान में भी तथा आयु में भी बड़े थे। उन्होंने मुझ से पहले मैट्रिक परीक्षा पास की थी और जब गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन छेड़ा था और एक करोड़ कांग्रेस फण्ड की अपील की थी, उन्होंने पैदल गांव-गांव घूमकर चन्दा एकत्र किया था। इसके लिए उन्हें अपने परिवार वालों से हर तरह से दण्ड का भागी होना पड़ा था। अतः, मेरी श्रद्धा ऐसे साथी, सखा, सचिव तथा अभिभावक पर बहुत थी। मेरे पिता जी जहां किसी बात के औचित्य को प्रमाणित करने में असफल होते, वहां पर इनकी बातें मुझे प्रभावित करतीं।

एक उदाहरण दूं। आज सिर के अग्रभाग में जुल्फें रखना, बड़े-बड़े बाल रखना और उन्हें तरह-तरह से सँवारना अति साधारण-सी बात समझी जाती है, इतनी साधारण कि उसे सहज स्वाभाविक ही कहिए। पर उन दिनों यह बात अधार्मिक, विदेशी, क्रिस्तानियत का चिह्न, ऐय्याशपरस्ती और वर्जनीय-सी वस्तु समझी जाती थी। बालों को अस्तुरे से साफ कराकर भद्र बन जाना अथवा केशों को बराबर काटना अथवा लिलारी काढ़ना अधिक प्रशंसनीय समझा जाता था। पर यह भी बात सही थी कि हम नवयुवकों में नवयुवक तो मत कहिए, मैं अभी जवान हुआ ही कहां हूं, ढूंढ़ रहा हूं कि कब जवान हुआ, कहिए किशोर—बालों को संवारने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। मैं बड़ा दोलाचल चित्तवृत्ति में था। यह देखूं या वह देखूं। एक ओर तो इन फैशनों की तरह-तरह से निन्दा की जाती थी, त्याज्य बताया जाता था। कहा जाता था कि इससे चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचारी बनने में बाधा होती है। दयानन्द सरस्वती के प्रताप से हम लोगों में ब्रह्मचर्य की महिमा खूब ही प्रतिष्ठापित हो गई थी। जहां कहीं किसी बात की निन्दा करनी हुई कि कह दो, इससे ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा में बाधा होती है। प्याज नहीं खाना चाहिए, लहसुन नहीं खाना चाहिए क्यों—ब्रह्मचर्य में बाधा। उधर यह भी देखता था कि समाज में जिन लोगों की बड़ी प्रतिष्ठा है, जिनकी शक्ति, स्फूर्ति, तेज के विज्ञापन छपते हैं, वे जुल्फें रखते हैं, बालों को संवारकर रखते हैं। यह विरोधाभास कैसा! अभी भी बहुत से लोग जीवित होंगे जिन्होंने कलियुग के भीम राममूर्ति तथा उनके शक्ति-व्यायाम के प्रदर्शनों को देखा होगा। वे छाती पर

हाथी चढ़ा लेते थे, बड़े-बड़े पत्थर रखकर हथौड़ों से कुटवाते थे, चलती मोटर को रोक लेते थे इत्यादि। कहा जाता था कि यह सब ब्रह्मचर्य की महिमा है। उसी के प्रताप से उनमें इतनी शक्ति आ गई है। पर यह भी मैं देखता था कि विज्ञापनों में जो उनकी मूर्तियां प्रकाशित होती थीं उनके बाल, जुल्फें खूब सजी, संवारी, प्रसाधित रहती थीं इसका समाधान कैसे हो। पिता जी कर नहीं सकते थे क्योंकि उन पर मेरी आस्था नहीं थी। वे मैट्रिक पास कभी नहीं कर सके। मैं हूं जो इस छोटी-सी अवस्था में मैट्रिक में पढ़ रहा हूं और पास तो कर ही जाऊंगा इसमें क्या सन्देह ? इस धर्म-संमूढ़ चेतः की अवस्था में भैया रामविभीषण जी के पास गया। समाधान के रूप में जो बात कही वह कितनी लचर थी, यह जब आज सोचता हूं तो बड़ी हंसी आती है। पर उस समय तो वही वेद-वाक्य था। उन्होंने कहा—अरे, यह तो कलियुग है, बड़े-बड़े योगी, तपस्वी, साधु लोग जुल्फें रखने लगे हैं। तब राममूर्ति की कौन कहे। एक बार मैंने जुल्फें रखीं। पिता जी ने तो अधिक एतराज नहीं किया पर मेरे दादा जी बड़े कट्टर सनातनधर्मी थे, उन्होंने इसका भयंकर विरोध किया। वे इन्स्पेक्टर आफ पुलिस थे, द्रव्योपार्जन करते थे, अतः परिवार के एक तरह से डिक्टेटर थे। कोई उनकी अवज्ञा कर नहीं सकता था। ऐसा अवस्था में क्या करूं ? इधर दादा जी इस बात पर तुले हैं कि बाल कटा देना होगा। उधर मेरा चित्त इस बात को स्वीकार करने के लिए कतई तैयार नहीं। सोचता हूँ कि यह तो मेरी भावनाओं पर अत्याचार है। विद्रोह कर दूं ! मुझ में इतनी शक्ति कहां कि अपने पैरों पर खड़ा हो सकूं। हे मन, चलो भैया रामविभीषण के पास। वे ही ऐसे गाढ़े मौके पर काम आते हैं। उन्होंने बहुत समझाया कि बालों को कटवा देना चाहिए। ये तो नारियों के विभूषण हैं। इन्हें नारियां रखती हैं। जो पुरुष बड़े-बड़े बाल रखते हैं, उनमें एक प्रकार की स्त्रैणता आ जाती है। इससे पुरुषों के पौरुषमय विकास में बाधा उपस्थित होती है। बात मेरी समझ में आ गई। बस, मैंने जाकर प्यार और बड़े नाज़ों से पाले हुए बालों को कैंची से कतर-कतर कटवा डाला।

मैं इन बातों का उल्लेख दो दृष्टियों से कर रहा हूं। देखा जाय कि मेरी जवानी का निर्माण किन-किन तंतुओं से हो रहा है। जवानी का अर्थ क्या ? विद्रोह। मुझे याद है कि जब पटना से श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के सम्पादकत्व में 'युवक' नामक मासिक पत्र निकल रहा था उस समय मेरा उससे बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसमें एक बार प्रेमचन्द ने एक लेख भेजा था, "युवक कौन ?" वह लेख हम लोगों को इतना पसंद आया था कि युवक आश्रम में हम सब बैठ कर उसे पढ़ते थे और अन्दर ही अन्दर हजार-हजार सिंहों की शक्ति बटोर लेते थे। उसमें प्रेमचन्द ने यह लिखा था कि युवक मूलतः विद्रोही होते

हैं, उन्हें किसी भी नियम की पाबन्दी पसंद नहीं। जिस मार्ग की ओर चल पड़े, चल पड़े। कोई भी शक्ति रोकने वाली नहीं है। उस लेख की एक पंक्ति आज भी याद है। प्रेमचन्द युवक के विद्रोह की चर्चा करते-करते कहते हैं कि **"जब काम करने पर आए रात आंखों में कट गई।"** उसी (युवक) के एक अंक में भाई प्रभात की एक कविता प्रकाशित हुई थी। शीर्षक तो याद नहीं पर उसकी कुछ पंक्तियां आज भी याद हैं:

म बन कर तीर बधिक का, छेदूं अन्याय हृदय को।
बिजली बन कर तड़कूं मैं, कांपे नभ अवनी थर-थर॥

◇ ◇ ◇

मैं गरल उगल दूं जग में पीकर यौवन का प्याला।

नजरुल इस्लाम की कविताएं तो जिह्वाग्रवर्तिनी ही हो रही थीं। मैं इन सब बातों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि मैं आज ठीक से देख सकूं कि कौन-कौन-सी शक्तियां मुझे जवान बना रही थीं। और आप देख ही रहे हैं कि मेरी विधायक शक्तियां विद्रोह-स्वरूपा थीं। इस तरह की शक्तियां जिसके निर्माण में सक्रिय हो रही हों वह व्यक्ति किसी नारी को देखकर स्थूल वासना से जल्दी परास्त नहीं हो सकता।

इसका दूसरा प्रमाण भी मिलता है। अभी मैंने भैया रामविभीषण की चर्चा की थी और कहा था कि किस तरह उनके एक संकेत पर मैंने चिर अभिलषित बालों को कटवा डाला था। आज मेरे मन में इच्छा यह होती है कि जब एक किशोर शक्ति और उद्वेग से कसमसाता हुआ मैं इतनी लालसा से पाले हुए घुंघराले केश-कलापों को कटा रहा था तो किसी कालिदास ने क्यों नहीं देखा? राम अयोध्या के राजा थे। जब वे वन में जाने लगे और नदी के तट पर अपनी राजसी वेशभूषा उतारने लगे तब सुमंत्र भी वहीं थे। सब कुछ देखते हुए भी वे छाती पर पत्थर रखकर सहते गए, उफ तक न की। पर जब राम ने अपने केश-कलापों को काट कर जटा-जूट धारण किया तो वे रो उठे? अरे कैकेयी! तेरी इच्छा पूरी हुई। पता नहीं कि मेरे केश-कलाप कर्त्तन से किस की इच्छा पूरी हुई। पर मुझे दुख है तो इसी बात का कि कवि लोग ऐसे अवसरों पर कहां चले जाते हैं या उनकी प्रतिभा कहां चली जाती है? माना कि राम वसुधाधिप चक्रवर्ती थे और सुन्दर वपु तो होंगे ही। पर मैं भी तो अपने भावात्मक साम्राज्य का चक्रवर्ती था और सुन्दर भी कम न था। उस युग में तो मेरी सुन्दरता के अनेकों प्रमाण मिले थे जिनके कारण सुखद तथा दुखद, अनुकूल तथा प्रतिकूल हर तरह की परिस्थितियों का सामना करना पड़ जाता था। पर इसका प्रमाण अभी उस दिन मिला जब कि मैं अपने साथी नवल जी के साथ पटने गया। वहां पर एक पुराने मित्र से मुलाकात हो गई। उस मित्र ने नवल

जी से बातचीत के दौरान में कहा—"He was supposed to be a man of very handsome personality during his college days." इससे बढ़कर आप मेरी मनोहर-वपुता, मनोज्ञता, सुन्दरता का क्या प्रमाण चाहते हैं ? कहने का अर्थ यह है कि ऐसे सुन्दर बालों को मैं कभी भी किसी को काटने नहीं दे सकता था। केवल रामविभीषण भाई में ही इस असाध्य साधन की शक्ति थी।

यहां पर एक और प्रसंग-प्राप्त बात पर भी विचार कर लेना चाहता हूं। मैंने बड़े नाजों से पाले हुए कुन्तल-कलापों को लोहे की कैंची को समर्पित कर दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो उस समय की यह बहुत महत्त्वपूर्ण घटना नहीं थी। पर क्या कारण है कि इस घटना को ऐतिहासिक घटना बनने का गौरव नहीं प्राप्त हो सका। यह इतिहास में स्थान प्राप्त करने के योग्य है भी या नहीं ? अथवा क्या कभी ऐसा अवसर भी आ सकता है कि यह इतिहास में स्थान प्राप्त कर सके ? वह अवसर कब और कैसे आएगा ? दूसरे शब्दों में प्रश्न का रूप यह बनता है कि ऐतिहासिक घटना क्या है ? अन्ततोगत्वा यह तो कभी भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि घटना अतीत में घटती है, वर्तमान में या भविष्य में नहीं। जहां घटी कि वह अतीत में जा गिरी। हां, वह अतीतत्व एक क्षण का हो या हजार वर्षों का पर है वह अतीत ही। सीजर ने Resicon पुल को पार किया, नेपोलियन वाटरलू के युद्ध में पराजित हुआ, अथवा मैंने अपने सुन्दर केश कुन्तलों को बेरहमी से कैंची को समर्पित कर दिया—ये सब घटनायें अतीत की हैं। पर सब को एक-सा गौरव प्राप्त नहीं हो सका, क्यों ? ऐतिहासिक घटनाओं को अतीत घटनाओं से पृथक् कर देखने की कसौटी क्या है। ऐतिह्य और ऐतीत्य में क्या अन्तर है ? ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? (What is a historical fact ?)

सहजबोध (commonsense) तो यही कहेगा कि यह कौन-सी कठिन बात है ? हेस्टिंग्स का युद्ध १०६६ में हुआ, १०६५ या १०६७ में नहीं, हेस्टिंग्स (Hastings) में ही हुआ, ईस्ट बोर्न (East Bourne) या ब्राईटन (Brighton) में नहीं, पानीपत का युद्ध पानीपत में ही हुआ, कुरुक्षेत्र में नहीं, वहाँ पर मराठों की ही हार हुई अफगानों की नहीं, भारतवर्ष १९४७ में ही, १५ अगस्त को अंग्रेजों के पारतंत्र्यपाश से मुक्त हुआ, ये सब बातें ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इसे मानने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? ये इतिहास की आधारभूत सामग्री हैं। मेरी दृष्टि में इन्हें आधारभूत सामग्री कहने की अपेक्षा कच्ची सामग्री (Raw Material) कहना अधिक समीचीन होगा। परन्तु इसे ऐतिहासिक तथ्य नहीं कहा जा सकता। कच्ची सामग्री सब इतिहास लेखकों के लिए एक ही हो सकती है। उसके स्वरूप में विभेद नहीं हो सकता, उसे ज्यों का त्यों ग्रहण करना

चाहिए। जो व्यक्ति इसके साथ थोड़ी भी छेड़छाड़ करता है, उनके स्वरूप में थोड़ी भी विकृति लाने की चेष्टा करता है उसे महान् अपराधी कहा जायेगा। परन्तु ऐतिहासिक तथ्य घटना मात्र ही नहीं है। अतीत की घटना को आगे बढ़कर ऐतिहासिक तथ्य के रूप में परिणत होने के लिए इतिहास की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। साधारण लोगों की धारणा है कि घटना स्वयं बोलती है, कैमरा झूठ नहीं बोल सकता। मुझे याद है कि जब भारत में स्वातंत्र्य युद्ध चल रहा था और अंग्रेजों के द्वारा निरीह सत्याग्रहियों पर किस तरह अत्याचार होते हैं, इस बात का प्रदर्शन करना था तो पार्लियामेंट के एक सदस्य पुलिस द्वारा डंडों से पीटे जाने वाले तथा घोड़ों की टापों से रौंदे जाने वाले सत्याग्रहियों का फोटो ले गये थे और बड़े आवेशपूर्ण शब्दों में पार्लियामेण्ट के सामने कहा था कि मैं झूठ बोल सकता हूं पर कैमरा झूठ नहीं बोल सकता। परन्तु ध्यान देकर विचार करने से पता चलेगा कि घटना स्वयं बोलती है यह बात भ्रामक है, गलत है। कम से कम इसमें पूर्ण सत्य नहीं है। सही बात तो यह है कि घटना तभी बोलती है, जब इतिहास-लेखक उससे बोलने को कहता है और जब इतिहास-लेखक उसे बोलने को कहता है तब घटना को बोलना चाहिए, घटना वही बोलती है जो इतिहास लेखक उससे कहलवाना चाहता है। यह इतिहास-लेखक ही है जो इस बात का निर्णय करता है कि किस तरह घटनाओं को सजा कर रखा जाय। कौन-सी घटना छोड़ दी जाय और कौन-सी घटना को किस तरह का स्थान दिया जाय। पीरेन्डेलो के पात्र ने एक बार कहा था कि घटना तो एक बोरे की तरह है। जब तक उसमें कुछ रखा नहीं तब तक उसमें खड़े होने की शक्ति आ ही नहीं सकती। उसी तरह हम कह सकते हैं कि हेस्टिंग्स की लड़ाई, पानीपत की लड़ाई इसलिए महत्त्वपूर्ण घटनाएँ बन गई हैं, क्योंकि इतिहासकार ने उसे महत्त्वपूर्ण घटना बना दिया है। रुबिकन के पुल से हजारों आदमी आते-जाते रहते हैं, परन्तु किसी ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए यह घटना ऐतिहासिक गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। परन्तु सीजर का रुबिकन का पुल पार करना एक ऐतिहासिक घटना बन गया क्योंकि इतिहासकार ने उसे विशेष दृष्टि से देखा और उपस्थित किया।

इतिहासकार ने इस घटना की ओर देखने में विशेष दृष्टि से क्यों काम लिया ? इसके लिए उसके अपने कुछ विशिष्ट कारण थे। उसी तरह मेरे केश-कर्त्तन वाली घटना इसलिए ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त नहीं कर सकी कि किसी इतिहासकार की दृष्टि इस ओर नहीं गई और किसी ने इस ओर हसरत भरी निगाह से नहीं देखा। मेरे लिए आज यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि जब कभी इतिहासकार की कलम में जुम्बिश आयेगी तो हमारे बालों की लपटें अपनी कब्र में भी लौ देने लगेंगी। मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूं।

हमारे पुराने विचारकों की दृष्टि भी इतिहास की इस विचित्रता की ओर गई थी। राम और रावण की कथा लीजिए न। रावण कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं था, लेकिन इतिहास ने उसकी कितनी निंदा की है, उसे कितनी गाढ़ी काली स्याही से पोतने का प्रयत्न किया है, उस पर कितना थूका है। इसका कारण क्या है ? इसका वर्णन करते हुए बिल्हण ने 'विक्रमांकदेव-चरित' में लिखा है कि :

लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावः न वञ्चनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

अर्थात् आज लंकापति रावण का यश इतना संकुचित हो गया है और रघुराज पुत्र राम इतने यशस्वी हो गये हैं यह तो आदिकवि वाल्मीकि की कृपा है और कुछ नहीं। इसी तरह हम कह सकते हैं कि किसी घटना को ऐतिहासिक गौरव संप्रदान करना इतिहासकार के बायें हाथ का खेल है। यह समझना कि ऐतिहासिक घटनाओं का कोई अपना पृथक वस्तुनिष्ठ रूप होता है और वह स्वतंत्र रूप में भी इतिहासकार की व्याख्या के अभाव में अपने निश्चित स्वरूप का अस्तित्व प्रमाणित कर सकती हैं, भ्रामक है। इसमें लोग विश्वास तो करते हैं और इस विश्वास को दूर करना सहज भी है, परन्तु यह बहुत बड़ा सत्याभास है।

मैं अभी एक पुस्तक से उदाहरण दे रहा हूं। जिसमें लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि कोई छोटी-सी साधारण घटना भी किस तरह इतिहास में प्रवेश करके गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकती है। कल्पना कीजिए कि १८५० में Stalyb Ridge Wakes पर एक खोमचेवाला सामान बेच रहा था, किसी खरीदार से पैसे के लेन-देन की बात लेकर बात ही बात में झगड़ा बढ़ गया। भीड़ एकत्र हो गई और भीड़ ने उसकी खूब मरम्मत की। क्या यह ऐतिहासिक घटना हुई ? लेखक लिखता है कि एक वर्ष पहले मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नहीं, यह ऐतिहासिक घटना नहीं है। किसी प्रत्यक्षदर्शी ने इस घटना का अपने संस्मरण में उल्लेख किया था, वरञ्च किसी इतिहासकार ने इस घटना की कहीं चर्चा नहीं की थी। एक वर्ष हुआ Drkvson clark ने अपने आक्सफोर्ड लेक्चर में इसे उद्धृत किया। प्रश्न यह होता है कि क्या इतने भर से ही यह घटना ऐतिहासिक बन गई ? लेखक कहता है कि नहीं अभी इसको ऐतिहासिक गौरव नहीं मिल सका है। बात इतनी-सी हुई है कि इतिहास के क्लब के सदस्य के रूप में इस घटना को मान्यता मिले इसका प्रस्ताव मात्र हुआ है। अब आवश्यकता है कि कोई इस प्रस्ताव का समर्थन करे। सम्भव है कि अन्य लोग भी जब १९वीं सदी के इंग्लैंड पर किताब लिखने लगें तो अपनी पादटिप्पणियों अथवा लेखों में इसका उल्लेख करें और २०-२५ वर्ष के बाद वह दृढ़ निश्चित ऐति-हासिक घटना का रूप धारण कर ले। वैकल्पिक स्थिति यह भी हो सकती है

कि कोई दूसरा व्यक्ति इस घटना को छुए भी नहीं। तब यह स्थिति आ सकती है कि जिस विस्मृति के गर्भ से क्लार्क ने इसे उद्धार करने का प्रयत्न किया था वह फिर उसी विस्मृति के गह्वर में विलीन हो जाय। मन में प्रश्न होता है कि यह स्थिति कैसे आयेगी ? कौन-से कारण हैं जो अन्य लेखकों का ध्यान इस घटना की ओर आकर्षित करेंगे और वे कौन-से कारण हैं जिनके कारण यह घटना लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकेगी। विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि इस घटना का महत्व इस बात पर निर्भर करेगा कि जिस तथ्य के समर्थन में क्लार्क ने इस घटना का उल्लेख किया है उस तथ्य को दूसरे इतिहासकार कितना महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक समझते हैं। यदि यह तथ्य महत्त्वपूर्ण और सार्थक हुआ तो इस छोटी घटना की भी महत्ता स्वीकृति हो जायेगी। मतलब यह है कि इस घटना का ऐतिहासिक महत्त्व इस पर निर्भर करेगा कि इसकी व्याख्या इतिहासकार ने किस ढंग से की है। इसे किस प्रकार सजाया है और किस बड़े ऐतिहासिक संदर्भ में इसका उल्लेख किया है। मैं इतिहासकार नहीं हूं। यदि मैं इतिहासकार होता और तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से स्पष्टीकरण करने के लिए इस केशकर्त्तन का उल्लेख करता तो यह भी ऐतिहासिक गौरव प्राप्त कर लेती। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। मैं चाहता जरूर हूं किसी न किसी तरह यह घटना भी इतिहास में स्थान पा जाये।

वैसे ही विभीषण भाई की आज्ञा की अवहेलना एक ही अवसर पर करता था, जब वे मुझे नारियों के सम्पर्क से बचने के लिये कहते थे। उनके मतानुसार नारियों के सम्पर्क से आदमियों का चारित्रिक पतन होता है, चित्त चंचल हो जाता है, विद्याध्ययन में बाधा पड़ती है, वे सत्त्वहीन हो जाते हैं। मैं चरित्रवान् समझा जाता था। बचपन में सच्चरित्र बालकों में किस तरह श्रेष्ठ समझा जाता था, इसके प्रमाण का उल्लेख कर चुका हूं। जवानी के दिनों में सच्चरित्रता का प्रमाण यह है : मेरे दादा जी, जिनकी चर्चा पहले बाल कटवाने के प्रसंग में कर आया हूं, बड़े कट्टर, तीक्ष्ण निगाह रखने वाले थे। वे मुझे बदमाश तो समझते थे पर यह नहीं समझते थे कि मुझ में लड़कियों के लिये कमजोरी है। वे मेरे चारित्र्य के प्रशंसक थे। उनकी दृष्टि में मैं अन्य नवजवानों की तरह लड़कियों के मोहक आकर्षण के प्रभाव में जल्दी आने वाला नहीं था। मुझ में अपने ऊपर नियंत्रण की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता थी। इससे बढ़कर मेरी चारित्रिक दृढ़ता, सत्त्व-सम्पन्नता, व्यसन-अनासक्ति का प्रमाण क्या हो सकता है कि मेरे दादाजी जैसे कठोर, शुद्ध-वृत्ति, कट्टर सनातन धर्मी, नवयुवक-चरित्र-शंकालु अनुशासक पर भी मेरे चरित्र का सिक्का था। नैषध में दमयन्ती के रूप-प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है :

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुति का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमत्युत्तरलीकरोति ।।

अर्थात् विदर्भ राजा की पुत्री ! धन्य हो कि तुमने (सौन्दर्य) गुणौदार्य के कारण नैषध (नल) को भी आकर्षित कर लिया । इससे बढ़कर चांदनी की स्तुति या प्रशंसा क्या हो सकती है कि वह सागर जैसे शांत चित्त को भी उत्तरलित कर देती है । ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि वह नवयुवक भी क्या कम धन्य है, उसका चरित्र भी क्या कम स्तुत्यास्पद है कि जिसने दादाजी जैसी कड़ी नजर वाले व्यक्ति के चित्त को आश्वस्त कर दिया । अन्तर इतना ही है कि दमयन्ती को एक कवि मिल गया । वे विदेहराज की पुत्री जो थीं और राजकुमारों तथा राजकुमारियों के विषय में कहा गया है कि उनका चरित्र स्वयं ही काव्य है और उनको उपजीव्य बनाकर किसी का भी कवि बन जाना सहज ही संभाव्य है । सच पूछिये तो आज मैं जो कवियों की निम्नाभिमुखी प्रवृत्ति को देखता हूं तो इस बात पर विचार करता हूं कि वे छोटी-छोटी त्याज्य वस्तुओं की ओर ही अधिक लपकते हैं, जैसे, भैंसा गाड़ी, कुकुरमुत्ता, सिगरेट का टुकड़ा, कैक्टस तो मन में एक तरह के विजयोल्लास का ही संचार होता है कि ठीक करते हैं कविगण, बदला लेना ही चाहिये । इतना ही भरोसा है कि यह प्रवृत्ति तो प्रक्रियाजन्य है, अधिक चलेगी नहीं ।

तो मैं ऐसा ही था और मुझ में जवानी के अंकुर उग रहे थे । ऐसे ही नवयौवनांकुर्यमान व्यक्ति को रामविभीषण जी समझाते थे कि नारियों के संसर्ग से बचना चाहिये। श्रवण-कीर्तन, केलि, प्रत्यक्ष, गुह्यभाषण इत्यादि सब परित्याज्य हैं । जानते हैं मैं उनको क्या उत्तर देता था ? कहता था कि नारियों से पलायन करने वाले व्यक्ति कायर हैं, उनको अपने ऊपर विश्वास नहीं है। वीर वह है जो खतरे का सामना करे, रण-क्षेत्र में उतरे और उसका सामना करे । **देख शरासन गवहिं सिधारे** लोग तो पलायनवादी हैं । नारियों के संग में रह कर भी उनके प्रभाव से निर्लिप्त रह **पद्मपत्रमिवाम्भसा** ही तो चारित्र्य की कसौटी है । तब मैं अपने भावों को सीधी भाषा में ही प्रकट करता था । न ज्ञान-वृद्ध था, न वयोवृद्ध । न बहुत-सी पुस्तकें ही पढ़ी थीं और न अधिक दुनिया ही देखी थी । आज कोई मुझे नसीहत दे तो भला ! न जाने कहां-कहां से श्लोक पर श्लोक उद्धृत करने लगूंगा। कालिदास को साक्षी के रूप में उपस्थित करूंगा, शिव का उदाहरण सामने लाऊंगा । शिव तपस्या में मग्न थे । उन्हें खूब मालूम था कि पार्वती के आने से तपस्या में विघ्न होगा । तथापि उन्होंने समाधि की प्रत्यर्थीभूता पार्वती को पूजा की अनुमति दे दी । क्यों ?

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते ।
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।।

अर्थात् धीर वही है जिसका चित्त विकार-हेतु के सामने भी विकृति को प्राप्त न हो। मैं अपने चारित्र्य की परीक्षा ले रहा हूं। सच पूछिये तो आज जब जरा शांत चित्त से विचार करता हूं तो ऐसा लगता है, युवावस्था में जहां एक ओर भावों का उद्दाम आवेग होता है वहां दूसरी ओर उनपर नियंत्रण करने की शक्ति भी होती है। वार्द्धक्य में जहां भावावेग की कमी होती है वहाँ उसमें नियंत्रण-शक्ति का ह्रास हो जाता है। अतः लाभ-हानि बराबर हो जाती है। न बुढ़ापा लाभ में, न जवानी घटी में।

यह तो मेरी मूल प्रवृत्ति की बात हुई। तिस पर उस नारी ने जो गीत गाया था। उसकी कुछ पंक्तियां आज भी याद हैं :

तलवार खूं में रँग लो अरमान रह न जाये।
विस्मिल के सर पे कोई एहसान रह न जाये॥
भर भर के प्याला पिला दो मय के शौक साकी।
महफिल में कोई प्यासा मेहमान रह न जाये॥

ये पंक्तियां एक खास तर्ज में गाई जाती थीं। प्रत्येक पंक्ति के उत्तरार्ध बड़े ही मधुर ढंग से पुनरावृत्त कर दिये जाते थे। जैसे तलवार खूं में रंग लो अरमान रह न जाये, रे अरमान रह न जाये। विस्मिल के सर पे कोई एहसान रह न जाये, रे एहसान रह न जाये। अभी कुछ वर्ष पहले श्री अमृतलाल नागर की एक पुस्तक निकली है—ये कोठेवालियां, जो वेश्याओं से लिए इन्टरव्यू पर आधारित है। वह पुस्तक इस समय मेरे पास नहीं है। पर मुझे याद आ रही है, उन्होंने भी इस गीत का हवाला दिया है, जो उन्होंने बनारस की किसी वेश्या के मुख से गाते हुए सुना था।

इसी वेश्या की कोठी से दो कदम पूर्व रामशरण हलवाई की दुकान थी। जहां से प्रतिदिन दो पैसे की जलेबी मैं रोज खरीदकर लाता था। वही मेरे जलपान के लिए नियमित रूप से मिला करता था। आज की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि वही मेरी चाय थी या नाश्ता (Breakfast) था। मैं बड़े उत्साह के साथ दो पैसे की चार बड़ी-बड़ी जलेबियां खरीद कर लाता था। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि जलेबियां ला रहा हूं, तब तक चील ऊपर से झपट्टा मार कर जलेबियों को उड़ा ले गई और मैं हाथ मलता वहां से लौटता था। मैंने एक योजना बनाई थी। ये जो दो पैसे मुझे प्रति दिन नाश्ते के लिए मिलते हैं, उनमें से रोज एक पैसा बचाऊँ और इस तरह से कुछ दिनों में मेरे पास काफी पैसे हो जायेंगे, तो किसी महत्त्वपूर्ण काम में व्यय करूँ। यह पैसा फंड कुछ दिन तक चला भी। एक दिन पिताजी ने मेरे पास पैसे देखे, उन्होंने छीनछान लिए और फिर मैं पहले ही की तरह दरिद्र का दरिद्र रह गया। मैं इन सब बातों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ, जिससे पता चल जाय कि मेरे घर

और स्कूल के बीच में कौन-से ऐसे भावात्मक दृश्य थे, A strategical points जहां पर मेरे भावों का व्यायाम हो जाता था। कहा जाता है कि वे स्थल जो हमारी मूल प्रवृत्तियों से संबद्ध रहते हैं, उनका चरित्र-निर्माण पर और व्यक्तित्व के संगठन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। मान लीजिये कि आप किसी विकट परिस्थिति में पड़ गये, परन्तु भाग्यवश वहीं पर आपके किसी प्रिय व्यक्ति से सम्मेलन हो गया। तब उसका परिणाम यह होगा कि स्थिति की विकटता और प्रिय वस्तु की प्राप्ति को लेकर आपकी अज्ञात चेतना में एक सम्बन्ध की स्थापना हो जायेगी और आपके अन्दर विकट परिस्थितियों का सामना करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो जायेगी और आगे चलकर आप विश्व के सामने एक उत्साही कर्मठ वीर के रूप में प्रकट होंगे। यही कारण है कि साहित्य में भी जब किसी वस्तु के प्रति आपके हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करने की इच्छा होती है तो उसका सम्बन्ध आपकी मूल प्रवृत्तियों से जोड़ दिया जाता है। मनुष्यों में काम और क्षुधा दो मूल प्रवृत्तियां हैं—इसमें तो किसी को भी टीका की गुंजाइश हो ही नहीं सकती। समझ लीजिए कि जिस वेश्या की या लड़के की चर्चा मैंने की है, उसका सम्बन्ध काम से है, जिस मिष्ठान्न भंडार की चर्चा अभी कर रहा हूँ, उसका सम्बन्ध मेरी क्षुधा से है। अतः इन स्थानों को लेकर मेरे जीवन में जो-जो घटनएं घटीं उनका मेरे चरित्र के निर्माण में बहुत ही असर पड़ा है।

इसी मिष्ठान्न भंडार के ठीक पांच कदम पूर्व एक मलाई की दुकान थी, उस दुकान पर यशोदिया नारी दही और मलाई बेचा करती थी। यह मत समझिए कि वह नवयुवती थी, इसीलिए मैं उसके प्रति आकर्षित होता था या उसकी चर्चा कर रहा हूं। नहीं वह थी तो वृद्धा ही पर उसमें वात्सल्य के भाव थे। वह ईमानदार थी और ब्लैकमार्केटिंग करने तथा सामान में मिलावट कर पैसे बना लेने की प्रवृत्ति उसमें आज की तरह नहीं थी। वह धर्मभीरु थी और उसके यहां से सामग्री खरीदकर उसकी विशुद्धता के विषय में हमलोग पूर्णरूप से आश्वस्त रहते थे। धर्म आज अपदस्थ हो गया है, हम लोग आसमानी बाप को भूलकर वर्क और भाप को ही खुदा समझ बैठे हैं। सम्भव है इससे कुछ लाभ हुआ हो। और लाभ किससे नहीं होता ? पर उसे छोड़कर हम आज हर तरह के आघातों के लिए खुले रह गए हैं, हम पर नियंत्रण करने वाली कोई शक्ति नहीं रह गई है। आज जब मैं अपनी भोजन-रुचि पर विचार करता हूं तो इस दुग्ध-मलाई का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मैं कभी-कभी इस पर आश्चर्य करता हूं कि मुझे दूध की मलाई इतनी प्रिय क्यों है ? यदि किसी खाद्य सामग्री के लिए कमजोरी है तो वह मलाई के लिए ही। आज वह चाय की दुकानों पर मिलती है। मैं चाय नहीं पीता। क्यों नहीं, इसका उल्लेख कर आया हूं। पर मलाई मुझे क्यों प्रिय लगती है ? इस का कारण मुझे उस समय

सूझ पड़ा जब कि मैं ये पंक्तियां लिख रहा हू : मैंने अपने कैंटीनवाले को आर्डर दे रखा है कि वह मेरे लिए एक प्लेट ताजी मलाई अवश्य तैयार रखे। बात यह है कि मुझ में बहुत विरोधाभासों का अस्तित्व है। मैं हूं आधुनिक व्यक्ति, आधुनिकता का प्रेमी। इसका एक प्रमाण है। मैंने अपने विश्वविद्यालय में पाठ्य-क्रम की रूपरेखा बनाई। वह रूपरेखा जब समिति के अन्य सदस्यों के पास स्वीकृति के लिए गई तो एक सदस्य ने जिसके लिए मेरे हृदय में बड़े आदर के भाव हैं, कमैंट किया कि आपके पाठ्यक्रम में आधुनिकता का रंग ज्यादा है। अतः मैं हूं तो आधुनिक व्यक्ति पर मेरे संस्कार पुराने ही हैं। अतः मैं मलाई खाना भी चाय की दुकान पर ही पसंद करता हूं। मलाई प्राचीनता का प्रतीक और चाय आधुनिकता का। मानो कोई मस्जिद में बैठकर शराब पीता हो अथवा शराबखाने में बैठकर खुदा की इबादत करता हो।

ठीक इस मलाई की दुकान से बस दो कदम पर वह स्थान था जहां हम रहा करते थे। उसे हम लोग 'डेरा' कहते थे। 'आरा के डेरा'। डेरा साहित्य में प्रयुक्त होने वाला शब्द नहीं है, ग्रामीण शब्द है। यदि काव्य में इसका प्रयोग हो तो वह ग्राम्यदोष का भाजन होगा। डेरा का अर्थ है चन्दरोज का बसेरा। पर डेरा शब्द इसलिए भी याद है कि उन्हीं दिनों मैं अपने आसपास की गीत-मंडलियों में एक गीत सुना करता था। **'बता दे छोटी ननदी सारंगीवाला डेरा'।** हो सकता है इस साहचर्य के कारण भी 'डेरा' शब्द आज भी याद रह गया हो। नहीं तो बहुत से ऐसे शब्द या मुहावरे जो उस समय हम लोग अपने वार्तालाप के दौरान में प्रयुक्त करते थे और जो बहुत ही सशक्त, सजीव तथा अभिव्यंजक होते थे, आज विस्मृत हो गए हैं।

ऊपर जितनी अवान्तर तथा अप्रासंगिक-सी लगने वाली बातों की जो चर्चा हुई है उनको जरा बटोरकर देखा जाय। मैं अपने स्कूल की ओर जा रहा हूं, शिक्षा प्राप्त करने के लिए, जीवन में जो समस्यायें आने वाली हैं, जो संघर्ष उपस्थित होने वाले हैं, उनका सामाना किस तरह किया जाय, इसके लिए सामर्थ्य और शक्ति प्राप्त करने के लिए। निश्चित ही स्कूल जीवन-युद्ध के लिए ट्रेनिंग-ग्राउण्ड है। मैंने एक बार एक बिल्ली को पूंछ हिलाते हुए देखा। बिल्ली अपनी पूंछ को तरह-तरह से हिला रही है और उसके छोटे-छोटे बच्चे उसी को पकड़ने के लिए उछल-कूद कर रहे हैं। मैंने एक मनोविज्ञान के प्राध्यापक मित्र से पूछा कि बिल्ली ऐसा क्यों कर रही है तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अपने बच्चों को चूहे पकड़ने की कला का अभ्यास करा रही है। पता नहीं कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा ? कदाचित् उन्होंने किसी पुस्तक में यह बात पढ़ी हो।

तो मैं अपने डेरे से स्कूल की ओर चला, स्कूल की ओर चला का अर्थ यह कि एक ऐसे स्थान को चला जहां के कारखाने में मुझे पीटकर जवान बनाया जा

रहा था। वहीं पर मुझे बताया जा रहा था कि मनुष्य को परम्पराओं का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। आत्मा अजर-अमर है, कोई अत्याचारी शरीर का नाश कर सकता है, पर आत्मा का नहीं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

आत्मा अभेद्य है, अदाह्य, अक्लेद्य है। जब असहयोग आन्दोलन चला, माता-पिताओं की आज्ञा के विरुद्ध भी सरकारी स्कूलों तथा कालेजों को छोड़कर राष्ट्रीय पाठशालाओं तथा विद्यापीठों में जाने का उपदेश देश के नेताओं की ओर से दिया जाने लगा तो एक बड़ी विकट समस्या सामने आई। एक ओर तो यह बतलाया गया था कि **पितृ देवो भव, मातृ देवो भव।** पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही परम तप है, पिता के प्रसन्न रहने से सब देवता-गण प्रसन्न रहते हैं। दूसरी ओर ऐसा अवसर आया था कि पिता की अवज्ञा को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। ऐसी स्थिति में प्रह्लाद और ध्रुव के उदाहरण दिए जाने लगे थे। इन दोनों ने ही अपने पिता की अवज्ञा की थी पर फिर भी ये भक्तों में श्रेष्ठ कहे जाते हैं। सारे पिता हिरण्यकश्यप तथा उत्तानपाद बन गए और पुत्रों ने प्रह्लाद तथा ध्रुव का बाना धारण कर लिया। वह घटना मुझे स्पष्ट याद है कि जब मैं कांग्रेस के नेताओं के भाषणों के प्रभाव में आकर अपने स्कूल को छोड़ कर राष्ट्रीय पाठशाला में चला गया था। इन पंक्तियों के लिखते समय वह स्थान भी नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से दीख रहा है जहां राष्ट्रीय पाठशालायें स्थापित हुई थीं। उसी समय एक स्कूल के अध्यापक थे श्री भवेश बाबू। उन्होंने स्टेशनरी तथा पुस्तकों की दुकान खोली थी और उसका नाम रखा था, गांधी-भंडार। हांलाकि गांधी भारत की राजनीति के क्षेत्र में हाल ही में आये पर उनके नाम में जादू का वह असर था कि वहां पर खरीद-दारों की भीड़ लगी रहती थी। बातें कहां तक कही जायें। खैर, इसी राष्ट्रीय पाठशाला के गेट पर से मेरे पिता जी मुझे पकड़ कर स्कूल में ले गए और वहां के स्टाफ रूम में ला पटका। सब अध्यापक गण भी वहां थे। मेरे पिता जी आज भी जीवित हैं। अब तो निरीह संत हो गए हैं। पर उस समय तो बड़े खूंखार थे। बात-बात पर डंडों की वर्षा करने लगते थे। मेरे बी० ए० में पढ़ने तक वे मुझे मारते थे। हांलाकि लोग उन्हें समझाते थे :

लालयेत् पंचवर्षाणि, दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

पर वे क्यों मानने लगे भला! तिस पर मैं तो उस समय छोटा ही था। नवीं कक्षा में पढ़ता था। तब वे अपने पितृत्व के अधिकार पर इस तरह के दारुण आघात क्यों सहने लगे भला। बस, उन्होंने थप्पड़ों, लातों, घूंसों, ईंटों, जो ही

हाथ लगा, उससे ही बातें करना आरंभ किया। इधर यह छोटा-सा शहीद भी जमकर बैठ गया। **"मार लीजिए, शरीर को काट दीजिए पर आत्मा मेरी अमर रहेगी।"** खैर अन्य अध्यापकों की मध्यस्थता से परिस्थिति सम्हाल में आई, याद नहीं कि मैं उस दिन कक्षा में गया या नहीं। दूसरे दिन से स्कूल जाना आरंभ हो ही गया। कहें तो इसे अपनी हार कह सकते हैं। पर आज देखता हूं कि यह मेरी हार नहीं थी। आगे चलकर मुझ में जिस विद्रोह की भावना उत्पन्न होने वाली थी, उसी का एक छोटा रिहर्सल था। मानो कोई पक्षी का बच्चा अपने परों को फड़फड़ा रहा हो, तोल रहा हो, उड़ता हो पर गिर पड़ा हो। आगे चल कर इस पक्षी को जो बड़े-बड़े उड़ान लेने थे, विद्रोह के क्षेत्र में जो कुछ भी थोड़ा-बहुत अग्रसर होना था, दूसरे शब्दों में जवान होना था, उसी का पूर्व रूप था, सम्प्राप्ति थी।

चला था मैं अपने डेरे से स्कूल के लिए और सोचा था कि बीच में पड़ने वाले उन रागात्मक स्थलों पर भी हसरत भरी निगाह से देखता चलूंगा जहां मेरे भावों का व्यायाम हो जाता था, जहां पर आधिभौतिक शरीर के पिंजड़े के प्रतिबन्ध के कारण तड़पती आत्मा को उन्मुक्त उड़ान लेने की स्वतन्त्रता तो नहीं मिलती थी पर हां, पिंजड़े की एकाध तीलियां अवश्य टूट जाती थीं और शुद्ध वायु की सांस से संवलित होकर अपने में व्यापकत्व की अनुभूति के स्पर्श से मैं पुलकित होने लगता था। पर यह हुआ नहीं। मैं डेरे से चल कर स्कूल में पहुंच गया और वहां पर अपने बनने-बिगड़ने की कथा कहने लगा। अपने निर्माण के तंतुओं को बटोर कर देखने लगा।

मुझे इस बात का खेद अपने पाठकों से कम नहीं है कि मैं क्यों इधर-उधर बहक जाता हूं, कलात्मक संगठन के सौष्ठव का ध्यान क्यों नहीं रखता ? कवि पंत के शब्दों को भी याद करता हूं :

क्या यह जीवन-सागर में
जलभार मुखर भर देना।
कुसुमित पुलिनों की क्रीडा
व्रीडा से तनिक न लेना॥

नदी चली सागर से मिलने। पर यह भी क्या अभिसार कि वह उद्गम स्थान से चली और चुपचाप जाकर समुद्र में विलीन हो गई। अरे, उसे अनेक तटों से होकर गुजरना था जहां अनेक उत्फुल्ल यौवन-पुष्प अपने व्याकुल विकास के लिए खड़े थे। उन्हें जरा भी आंख खोलकर नहीं देखा, न उन्हें मुग्ध किया, न मुग्ध हुई। न हृदय दिया, न हृदय लिया। न घायल किया, न घायल हुई। बस सीधे नाक की सीध में चलकर समुद्र में गिर पड़ी। धिक् ! यह भी कोई जीवन में जीवन है।

उसी तरह मैं भी अपने को कम धिक्कारता नहीं हूं कि अरे यह भी क्या कि डेरे से चले और सीधे स्कूल में पहुंचकर बातें करने लगे। बीच में अनेक मार्मिक स्थल हैं उन पर हसरत-भरी निगाह क्यों नहीं डाली ? खैर मैं विवश हूं। पन्त की नदी की लाचारी को समझता हूं। मुझे इस बात का थोड़ा सन्तोष भी है कि मैंने डेरे से स्कूल के लिए प्रस्थान करने के समय तथा स्कूल से डेरे के प्रति लौटने के समय तो इन स्थानों पर एक सरसरी दृष्टि डाल ही दी है। अरस्तू तथा शुक्ल जी ने महाकाव्यकारों को निर्देश दिए हैं कि कथा के आदि, मध्य, अवसान की कड़ियों की सुव्यवस्था करो, कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानो और वहां पर चित्तवृत्ति को रमाओ, उनकी भी याद आती है। स्कूल में इतनी ही बातें नहीं थीं। आज मुझे बधिरता के शाप से अभिशप्त देख कर लोग शायद यह कल्पना करें कि मुझे संगीत इत्यादि से क्या सम्बन्ध और यह तर्क करें :

यत्र यत्र श्रवणशक्त्यभावः तत्र तत्र संगीतप्रीत्यभावः,
अत्र श्रवणशक्त्यभावः अतः अत्रापि संगीतप्रीत्यभावः।

अथवा यह कहें **"उपाध्यायोऽयं संगीताप्रियः श्रवणशक्तिविरहत्वात्"** पर यह हेत्वाभास होगा। आज के बधिरत्व से मेरे स्कूल के दिनों में बधिरत्व की अवस्थिति का अनुमान कर लेना गलत होगा। क्योंकि दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, जिस तरह धूम अग्नि में अविनाभाव रहता है। यहां अनुमान को व्याप्ति का आधार नहीं मिलता। अन्वय और व्यक्तिरेक की भी सम्प्राप्ति नहीं होती, जो अनुमान के लिए अनिवार्य है। मेरे स्कूल में संगीत के लिए कोई कक्षा तो नहीं थी पर मैं यह कह ही आया हूं कि मैं तो ऐसे वातावरण में रहता ही था जहां अहर्निश संगीत की धारा बहती रहती थी। यौवन का निर्माण करने वाली आरा नगरी, १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रमुख नेता **'तेग बहादुर' कुंवर सिंह** के चरण-रज से पवित्र आरा नगरी, गंगा नदी से अभिसिंचित आरा नगरी का कोना-कोना संगीत की मधुर ध्वनि से गुंजित रहता था। विशेषतः तरी मुहल्ला जहां मैं रहता था, वह तो संगीत-निपुणा वेश्याओं के लिए प्रसिद्ध ही था। मेरे गांव में भी संगीतज्ञों अथवा संगीत-प्रेमियों का एक गुट्ट था। मेरे जवार में अर्थात् अड़ोस-पड़ोस के गांवों में पेशेवर संगीतज्ञों तथा नर्तकों की एक मंडली थी जो विवाहादि समारोहों के अवसर पर अपनी कला का प्रदर्शन करती थी। इस मंडली के नेता थे श्री परमेश्वर उपाध्याय जो किसी भी संगीत सम्बन्धी विषय में विशेषज्ञ तो नहीं थे, गला भी उनका विशेष तो मधुर नहीं था, पर गाने लगते थे तो विचित्र समां बंध जाता था। दूसरे थे इन्दर। इनके जैसा कुशल तबलावादक मैंने नहीं देखा। जब इनकी अंगुलियों की थाप तबले पर पड़ती थी, जब वे टुकड़े लगाने लगते थे और परन छेड़ने

लगते थे तो ऐसा लगता था मानो इसी मृत्युलोक में अमृत-स्रोत झर रहा हो ।

इन लोगों का प्रभाव मुझ पर पड़ ही रहा था । मेरा वश चलता तो मैं भी संगीत सीखता और नृत्यकला का ज्ञान तो जरूर ही प्राप्त करता । मेरी कंठध्वनि आज कैसी है, मधुर या कर्कश, सुरीली या तीखी यह मैं नहीं कह सकता क्योंकि मैं अपनी आवाज भी नहीं सुन पाता पर उस समय मेरा गला मधुर रहा होगा, भले ही मैंने वहां पर कोई कोयल पाल नहीं रखी हो । यह तो निश्चित ही है कि मैं मन ही मन संगीतों का अनुकरण किया करता ही था । समय-कुसमय में कुछ गुनगुनाता ही रहता था । मेरे पिता जी थोड़ा शुद्धवादी (Puritan) थे । उन्हें तो मेरी यह गतिविधि पसन्द नहीं थी और वे मेरे इस रवैये को डांट-फटकार कर हतोत्साहित भी करते थे । पर मेरे डेरे में एक पंडित रामरत्ती मिश्र रहते थे जो हमारे गीतों के प्रशंसक थे और उनके द्वारा मुझे इसके लिए सराहना भी मिलती थी और प्रकारान्तर से प्रोत्साहन भी । यह लीजिए न । कभी-कभी ऐसा होता था कि बाहर से मिलने-जुलने वाले मित्रगण आए हुए हैं । पिताजी भी वार्त्तालाप में सम्मिलित हैं । मिश्रजी बड़े प्यार से बुलाकर कहते थे कि बच्चा कुछ गाकर सुनाओ । मैं मन ही मन बड़ा ही Flattered feel करता था, विशेषतः पिताजी पर अपनी Moral victory के इस अवसर पर बड़ा ही गर्वोन्नत अनुभव करता था ।

खैर, यह तो घर की बात हुई । मैं कर रहा हूं स्कूल की बात । मैं अपने गीतों के लिए बहुत प्रसिद्ध तो नहीं था पर अध्यापकों को यह बात मालूम थी कि मैं अच्छा गा लेता हूं । एक बार स्कूल में कोई पुरस्कार-वितरण समारोह था । ऐसे अवसरों पर एक ऐसे छात्र या छात्रा की आवश्यकता पड़ती है जो मधुर ढंग से गाकर सरस्वती वन्दना कर सके या समागत अतिथियों का स्वागत कर सके । छात्राओं का उन दिनों प्रश्न ही नहीं था । आज तो स्कूलों में या कालेजों में छात्राएं मिल जाती हैं पर उस 'असूर्यंपश्या' के युग में स्कूलों में कहां छात्राएं । अतः सुन्दर तथा कोमल वपुः छात्रों से ही इस तरह के काम लिए जाते थे और मैं सुन्दर था इस बात पर आप मेरी गवाही पर ही विश्वास कर लीजिए । वैसे औरों की गवाहियां भी मेरे पास हैं और मैं उन्हें पेश भी कर सकता हूं तथा उनके लिए अन्दर से प्रेरणा भी हो रही है । पर फिलहाल उस पर नियन्त्रण से काम ले रहा हूं, कारण कि एक तो बात बहुत ही बढ़ जाएगी, **"बाढहिं कथा पार नहिं लहहू"** और दूसरी बात यह कि मुझे ऐसे क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ेगा जहां प्रवेश वर्जित है **"आर्य धर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः"** वाली बात समझ लीजिए । मेरा मन भी सुनने के लिए बहुत उत्सुक है और पाठकों की 'कान खड़ी' मुद्रा को देखकर मैं कह सकता हूं कि वे भी बड़ी

उत्सुकता से सुनने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पर आप अपने ऊपर थोड़ा नियन्त्रण रखें, धीरज रखें। इन प्रसंगों की भी बारी आएगी। यथावसर इनकी कथा सुनाऊंगा। प्रार्थना यही है कि आज मुझे नग्न न कीजिए, मेरी इज्जत रखिए, मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा कीजिए। मैं सचमुच बहुत कड़ी परीक्षा की घड़ियों से गुजर रहा हूं। अन्दर से ऐसी बेताबी हो रही है पर अपने कच्चे चिट्ठे को खोल-कर रख देने में ऐसा लगता है कि मेरी लुटिया डूब कर रहेगी। मैं आज एक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष हूं, मेरे छात्र, सहपाठी, सहयोगी तथा मित्रगण मुझे कितनी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। इन सब आचरणों को भेदकर उनकी तह में छिप कर बैठे हुए नवयुवक को उद्दाम, आवेगमय, अन्दर से उमगता हुआ, लहकता हुआ, जलता हुआ, जलाता हुआ—देखना चाहते हैं। क्या वह हिंसात्मक वृत्ति नहीं है? गांधीजी जब आपकी इस वृत्ति को देखेंगे तो वे क्या कहेंगे? मैं अपनी ओर से आपको यही विश्वास दिला सकता हूं कि मैं यथावसर आपको निराश नहीं करूंगा। आज तो इतने पर ही सन्तोष कर लीजिए। कवि की प्रतिज्ञा है कि

आजु तो याहि से हंस खेल बोल लेहु लाल,
काल एक बाला लाऊं काम की कुमारी सी।

तो मैंने संगीत में पूर्व परीक्षा दी और उसमें सफल हुआ। परीक्षा लेने जो व्यक्ति आए थे उन्होंने मेरी तारीफ के पुल बांध दिए और मैं समारोह में सरस्वती वन्दना के लिए चुन लिया गया। मुझे उस गीत की एक कड़ी याद है जिसे मैंने पूर्व परीक्षा के समय पर गाया था। लय भी याद है, धुन भी याद है और आज भी जब कि श्रवण-शक्ति ने सर्वथा जवाब दे दिया है, मैं गा कर सुना सकता हूं पर यहां इसे लिख कर कैसे बताऊं? गीत की एक कड़ी है:

वे कौन हैं जो लोगों को रो के रुला के मरते।
हम तो बीसों हंसा जाएंगे मरते-मरते।

मैं चुन तो लिया गया। यहां तक तो ठीक। पर बाद में मैंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मैं गीत नहीं गा सकूंगा। वहां के लोगों को बड़ी निराशा हुई। हेडमास्टर ने अपने दफ्तर में बुलाकर बहुत डांटा। हेडमास्टर का नाम था शिवदीप बाबू; उनका व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली था। मुंह में पान का बीड़ा अवश्य ही रहता था। आंखें बड़ी-बड़ी थीं। गाने के लिए अस्वीकार करने पर उन्होंने आंखें निकाल कर कहा—'Do you know consequences of the displeasure of a head-master'. तो सच मानिए कि वह किसी भी छात्र के साहस को दहला देने के लिए पर्याप्त था। पर न जाने इस नन्हे-से बालक में कहां से ताकत आई कि उसने कहा 'Yes, But I am helpless'. मैंने क्यों अस्वीकार किया। मैं संगीत का प्रेमी था ही, साथ ही

दर्शनप्रिय भी था। और इन दोनों बातों की सिद्धि यहां पर होती थी। तब मैंने क्यों अस्वीकार किया ?

इस विरोधाभास की व्याख्या आज सहज ही मनोवैज्ञानिक के प्रिय शब्द Ambiva Lence द्वारा कर सकते हैं। पर उस समय भी मैं इस विरक्ति का कारण खूब समझता था। और खूब समझकर ही मैंने उस समारोह में सम्मिलित होने के लिए अस्वीकृति दी थी। बात यह है कि सब कुछ होते हुए भी मेरे हृदय में संगीतज्ञों के प्रति आदर के भाव न थे। संगीत एक कला है, संगीत लोगों को प्रभावित करता है। कालिदास ने कह ही दिया है कि :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरान् च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः ॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

अर्थात् संगीत भावस्थिर, जननान्तर सौहृद का अबोधपूर्व स्मारक है, यह हृदय की अज्ञात तहों को खोलता है। इसीलिए मेरे हृदय में संगीत के लिए सहज आकर्षण था। पर इसका एक दूसरा पहलू भी था। नृत्य और संगीत से संबंध रखने वाले, दूसरे शब्दों में व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के प्रति भाव अच्छे न मुझमें थे और न तत्कालीन समाज के वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों में। मेरे पिताजी तथा पितामह जी किस तरह इन सारे व्यापारों के विरुद्ध थे, इसकी चर्चा कर ही चुका हूं। संगीत और नृत्यकला वेश्याओं के हाथ में थी और ये वेश्यायें भले ही मन्दिरों तथा अन्य समारोहों के अवसर पर बुला ली जाती हों पर उनके साथ एक असतीत्व की भावना जो जुड़ी रहती थी उसके लिए वे त्याज्य भी समझी जाती थीं। वे लोगों को चरित्रभ्रष्ट करने वाली समझी जाती थीं और इन दिनों एक आन्दोलन भी चला था कि वेश्याओं को नगर से दूर रखा जाय। पुरुष वर्ग जो इस व्यवसाय से सम्बद्ध था, उसमें हम स्पष्ट देखते थे कि उनका चरित्र अच्छा नहीं था। लड़के जो साड़ी पहन कर नाचते थे उनमें तो स्त्रैणता थी, यौनिक विकृति थी, उनमें प्रायः स्वलिंगता की प्रवृत्ति थी और उनके द्वारा समाज में विशेषतः नववयस्क बालकों में विकृत यौनभ्रष्टता को प्रश्रय मिलता था इसमें कोई सन्देह नहीं। हां, इसके कुछ अपवाद भी थे पर अपवाद तो अपवाद ही है न। अतः इन सब बातों को देख-देखकर मेरे हृदय के भीतर संगीत तथा नृत्य के विरोधी भाव भी संचित हो रहे थे। अतः एकान्त में अपने जीवन के निभृत क्षणों में गुनगुना लेता होऊं, गा लेता होऊं, अपनी अन्तरंग मण्डली में गा भी लेता होऊं—मुझे याद है कि मेरे सहपाठियों में से कुछ अधिक-वयस्क सत्यनारायण सिंह, व्रजनन्दनसहाय इत्यादि टिफिन की छुट्टी के समय दबाव डाल कर भी मुझ से गाने के लिए कहते और मैं गाता भी था।

पर सार्वजनिक रूप से संगीत में मैंने भाग लेने में कभी भी उत्साह नहीं दिखलाया। डर इस बात का था कि संगीत में मेरी अभिरुचि देखकर लोग मुझ पर उन्हीं दुर्गुणों या दोषों का आरोपण कर लेंगे जो संगीतज्ञों तथा नृतकों में पाये जाते हैं। मानो संगीताभिरुचि तथा चरित्र-भ्रष्टता दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध हो। संगीतज्ञ चरित्र-भ्रष्ट होते हैं। यह बालक संगीतज्ञ है। अतः यह भी चरित्रभ्रष्ट है, कुछ इस तरह की अनुमान-प्रक्रिया लोगों के मानस में सक्रिय होगी और मेरे पाक दामन पर धब्बे लग जायेंगे।

अथवा इसका दूसरा कारण भी हो सकता है। हीनता ग्रंथि (Inferiority Complex) आज भी मुझ में है। आज भी मुझे रंगमंच पर आकर भाषण देने में डर लगता है, हालांकि हूं लेक्चरार। भाषण देना मेरी जीविका ही है, उसी की मैं रोटी खाता हूं। मन में तो आता है कि भाषण देने का अवसर मिले पर जब भाषण देने का अवसर आता है तो मैं ही जानता हूं कि मुझे कौन-सी अग्नि परीक्षा से होकर गुजरना पड़ता है। मन में यही होने लगता है कि मैं किस तरह से **अभिरूप भूयिष्ट परिषद्** का सामना कर सकूंगा लोग मेरी बातों को सुनकर मुझे कितना समझेंगे? मेरी कितनी भद्द उड़ेगी, जिस समय कालिदास के सूत्रधार के मुख से यह सुना था कि

आपरितोषद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

तो उस पर विश्वास नहीं हुआ था पर उसके दर्द को, मर्म को, पीड़ा को, वेदना को, खूब समझ रहा था।

लेकिन आज तो इस हीनता-ग्रंथि का एक स्पष्ट कारण भी है। श्रवणशक्ति-हीनता, बधिरता। किसी ने पाणिनि को कोसा था, '**हता पाणिनिना वयम्**'। पाणिनि ने उनसे कह दिया कि मन नपुँसक लिंग है। बस उन्होंने उसे अपनी प्रिया के पास भेज दिया, यह समझ कर कि यह तो नपुँसक है, इसे प्रिया में क्या रुचि। पर वह मन तो वहीं प्रिया के पास ही रमण करने लगा, लौटने का नाम भी नहीं लेता। पाणिनि ने मुझे मार डाला :

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम्॥

खैर, पाणिनि ने उन्हें जो कुछ किया—मारा हो या रक्षा की हो। यदि पाणिनि ने उन्हें मार ही डाला होता तो कवि जी आज कविता करने के लिये जीवित रहते? अथवा कवि जी की आत्मा बोलती हो तो नहीं कह सकता। पर पाणिनि ने तो मेरा सर्वस्व ही ले लिया, ऐसा किया कि जीवन का सारा मजा ही किर-किरा हो गया। उन्होंने सूत्र बना दिया, '**येनांगविकारः**' और उदाहरण दे दिया '**कर्णेन बधिरः**' बस लो, मैं हो गया बधिर। न वे सूत्र बनाते, न '**कर्णेन बधिरः**'
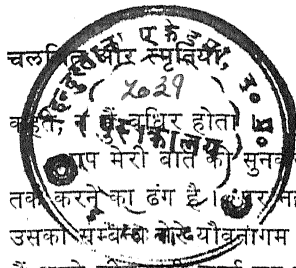
कहीं, न मैं बधिर होता

आप मेरी बात को सुनकर हंसते होंगे । मन में सोचते होंगे कि यह भी कोई तर्क करने का ढंग है । पर नहीं मेरी बातों का एक दार्शनिक पहलू भी है और उसका सम्बन्ध मेरे यौवनागम से भी है और इसमें तो कोई शंका ही नहीं कि मैं अपने जीवन की चर्चा कर रहा हूं, खोज रहा हूं कि मैं कब और कैसे जवान हुआ ? तब मैं एक दार्शनिक बात को कैसे भुला सकता हूं । बात यह है कि जिन दिनों की बात कर रहा हूं उस समय यद्यपि आधुनिक युग का सूत्रपात हो गया था, लोग विज्ञान के प्रभाव में आकर जीवन और उसकी समस्याओं पर नूतन ढँग से विचार करने लगे थे । पर मध्ययुगीन विचार-पद्धति से पूर्णतया मुक्ति लोगों को नहीं मिल सकी थी । पण्डितों में शास्त्रार्थों की खूब धूम थी । जहाँ दो संस्कृत के विद्वान् या विद्यार्थी एकत्र होते कि शास्त्रार्थ छिड़ जाता था । पर शास्त्रार्थ होता था पाणिनि के सूत्रों पर, अथवा ऐसे विषयों पर कि वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय । **"ईश्वरो नवेति ।"** व्याकरण की फक्किकायें तो समझ में नहीं आती थीं । हां पंडितों में जो भौंकाभौंकी होती थी उसमें बड़ा आनन्द आता था । ईश्वर है या नहीं, इस विषय पर जो विवाद होते थे उसे कुछ समझ लेता था । ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए बहुत से तर्क दिए जाते थे । उनमें एक तर्क यह भी था कि संसार के सब वस्तु-जात, चेतन या जड़ के हृदय में एक प्रकार की हलचल है । ये नक्षत्र, ग्रह, तारे, पृथ्वी सब किसी चीज को पाने के लिये व्याकुल हैं । यह व्याकुलता, चाहना उनका सहजात है । अतः, वह वस्तु होनी चाहिये जिसे पाकर वह तृप्तकाम हो जाएं, उनके हृदय की सारी हलचलें शान्त हो जायँ । मनुष्य को प्यास लगती है, यही पानी के अस्तित्व का प्रमाण है । उसे भूख लगती है, यही अन्न के अस्तित्व का प्रमाण है । यदि पानी नहीं रहता तो प्यास भी नहीं लगती, यदि अन्न नहीं रहता तो भूख भी नहीं लगती । यह बात दूसरी है कि पानी इस मरुभूमि में नहीं हो या गेहूं बाजार में नहीं मिलता हो पर वह व्यापारियों के कोठों में तो है ही । अतः, यह सिद्ध है कि वह वस्तु आवश्यक है जिसे प्राप्त कर हम लब्धकाम हो जायेंगे और वह ईश्वर के सिवा और हो ही क्या सकता है ? उसी तरह मैं सोचता हूं कि पाणिनि जैसे आप्तवाक्य व्यक्ति की लेखनी ने लिख दिया, **'कर्णेन बधिरः'** । पाणिनि साधारण व्यक्ति तो थे नहीं कि उनकी वाणी मिथ्या हो, वे तो अवतार थे, उनकी वाणी अमोघ थी । अतः उनकी वाणी की सत्यता सिद्ध करने के लिए बधिर होना पड़ा और मुझे ही । वैसे और लोग भी बधिर होंगे । हों हों, न हों, न हों । पर जो बधिर होगा वह मैं ही होऊँगा ।

मैंने तर्क करने की एक विचित्र प्रणाली का आश्रय ऊपर की पंक्तियों में लिया है और उससे अनेक परिणाम निकाले हैं । इसे पढ़ कर कुछ लोग आश्चर्य चकित

होंगे और यह कहेंगे कि क्या बे-सिर पैर की बातें कर रहा हूं। इतने बड़े प्रोफेसर को इस तरह की बातें करना शोभा नहीं देता। परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि प्रोफेसर के मुख से ये बातें निसृत नहीं हो रही हैं। ये बातें सृजन की बेला में एक ऐसे व्यक्ति के मुख से निकल रही हैं, जिसकी मानसिक अवस्था तत्कालीन स्थिति से फिसल कर अपने बाल्यपन की अवस्था की ओर मुड़ रही है, मनोविज्ञान के शब्दों में कहिए कि अपने बपचन की तरफ प्रतिगमन कर रही है पर वह पूर्ण रूप से अपने बाल्यपन की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकी है। बीच ही में उस अवस्था पर आबद्ध (Fixed) हो गई है जिस अवस्था की चर्चा अभी की जा रही है। पता नहीं मनोवैज्ञानिक इसे कौन-सा fixation कहेंगे। आपको मालूम है कि मैं यहां पर अपनी जवानी के दिनों को स्मृति के पथ पर ला रहा हूं, उसमें आज की शक्ति के द्वारा फूंक कर प्राणों का संचार करना चाह रहा हूं। वे दिन अब जीवित हो उठे हैं, उनमें पुरानी शक्ति आ गई है और उन्होंने मुझ पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया है जो मुझे न तो आगे बढ़ कर आज की अवस्था में पुनः आने देते हैं और न पीछे हटकर बाल्यकालीन अवस्था में ही जाने देते हैं। यदि पूर्णरूप से हमारी चेतना के सारे आवरण दूर होकर अचेतन के द्वार खुल गए होते तो, मैं मनोवैज्ञानिकों की साक्षी के आधार पर कह सकता हूं, कि एक बहुत बड़ी साहित्यिक कृति की रचना हुई होती। परन्तु ऐसी बात हो नहीं सकी यह सही है। इसका कारण यही है कि मैं इस वक्त उस भूत के वश में हूं, जिसको मैंने अपने मंत्रों के बल पर जगाया है और जो मुझ पर अधिकार कर अपनी मनमानी राह की ओर मुझे प्रेरित कर रहा है और जो वह कहना चाहता है वह मुझसे कहला रहा है। इसलिए यदि मैं अनर्गल प्रलाप भी करता हूं तो भी इसके लिये क्षमितव्य हूं। मैंने कहा न कि मैं २०वीं शताब्दी की द्वितीय दशाब्दी की बात कह रहा हूं। जबकि परिस्थितियां, विचारधाराएं और वातावरण मेरे जीवन का निर्माण कर रहे थे और मैं यह बात कह ही आया हूं कि उन दिनों कम से कम बिहार में आर्यसमाज और सनातनधर्म दो ऐसी धार्मिक संस्थाएं थीं, जिनमें सार्वजनिक रूप से सैद्धान्तिक वाद-विवाद होते थे और हम लोग बड़े उत्साह के साथ उन सभाओं में भाग लेते थे और उनका प्रभाव हमारे व्यक्तित्व पर तो पड़ता ही था। और उस समय उनके रंगमंच से जिस तर्क-वितर्क का वाग्जाल फैलाया जाता था उसका रूप भी कुछ वैसा ही था जो रूप मेरे तर्कों ने यहां पर धारण कर लिया है। ऐसा न होना ही आश्चर्य की बात होती। यदि उनका मेरे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता था, तो इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। नहीं पड़ना ही आश्चर्य है, पड़े अचम्भा कौन ?

मैं यहां पर उन तर्कों का नमूना उपस्थित कर रहा हूं जो उन दिनों काम में लाये जाते थे। एक सनातनधर्म वक्ता बड़ी धूमधाम और अकड़ के साथ रंग-

मंच पर आते हैं और कहते हैं—'भाइयो ! मैं आर्यसमाजियों से एक प्रश्न पूछता हूं । यदि कोई आर्यसमाजी इसका ठीक-ठीक उत्तर दे दे तो मैं उसकी टांग के बीच से निकल जाऊं । प्रश्न यह है कि गाय तो काली होती है पर उसका दूध सफेद क्यों होता है ? है कोई आर्यसमाजी जो इस प्रश्न का उत्तर दे सके । हमारे पास इसका उत्तर है—'सनातनधर्म' । बोलो सनातन धर्म की जय ।

मुझे याद है बाजारीशाह के गोले में आर्यसमाजियों का कोई वार्षिक उत्सव था । वहां पर मूर्तिपूजा को लेकर वादविवाद था । सनातनधर्मियों की ओर से आरा के प्रसिद्ध मुखतार और सनातनधर्म के नेता श्री राजानन्द सिंह ने मूर्तिपूजा के समर्थन में एक बड़ा विचित्र तर्क दिया था । उन्होंने कहा था कि योरप इत्यादि देशों के पुष्पों में सुगंधि नहीं होती क्योंकि वहां के लोग मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते । भारतवर्ष में मूर्तिपूजा होती है इसलिए यहां के पुष्प भी सुगंधमय होते हैं । मुझे यह भी याद है कि आर्यसमाजी वक्ता की ओर से यह कहा गया था कि यदि यही बात है तो मस्जिद में उगे हुए या मुसलमानों के घर में उगे हुए पुष्पों में सुगंध नहीं होनी चाहिए । मेरे कहने का मतलब यह कि इसी तरह तर्क-वितर्क से उन दिनों का वातावरण पूरित था । आर्यसमाजियों की ओर से कहा जाता था :

अजब हैरान हूँ भगवन ! तुम्हें कैसे रिझाऊं मैं ।
नहीं है कोई ऐसी वस्तु जिसे सेवा में लाऊं मैं ।।
तुम्हीं व्यापक हो फूलों में तुम्हीं व्यापक हो मूर्ति में ।
भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊँ मैं ।।

इसके उत्तर में सनातनधर्मी वक्ता बड़े विनोदी ढंग से कहते थे—वाह ! इस तर्क से तो आर्यसमाजी भाइयों को लेने के देने पड़ जायेंगे :

तुम्हीं व्यापक हो कपड़े में, तुम्हीं व्यापक हो कैंची में
भला भगवान को भगवान पर कैसे कटाऊँ मैं ।।
तुम्हीं व्यापक हो गेहूँ में, तुम्हीं व्यापक हो आदम में
भला भगवान को भगवान कैसे से खवाऊँ मैं ।।

तब तो आर्यसमाजी भाइयों को नग्न रहना होगा और फाकेकशी करनी होगी । मतलब यह कि इसी तरह के तर्क का बाजार गर्म था और यदि मैं उन दिनों को पुनः जीने के समय (जैसा मैं आज कह रहा हूं) उन्हीं दिनों की तरह व्यवहार करने लगूं और बातें करने लगूं तो इसके लिए सर्वथा क्षन्तव्य हूं । वास्तव में पूछिए तो जिस कार्य में मैं यहां संलग्न हूं उसको ठीक तरह से प्रकट करने के लिए यही पद्धति उचित हो सकती थी । इसी पद्धति के द्वारा इस वर्ण्य विषय के साथ पूर्ण रूप से न्याय हो सकता था ।

अतः आज जो हीनता की भावना है उसके लिए तो वधिरतारूपी कारण है

और वह पर्याप्त है। पर उस समय तो बधिर नहीं था, तब मुझ में पलायन-वादिता, जनभीरुता, हीनभावना कैसे आई ? मुझे तो ऐसा लगता है कि उस समय भी जरूर कुछ बधिर रहा होऊंगा। न active, potential ही सही पर रहा होऊंगा अवश्य। क्योंकि मनुष्य को जो कुछ होना होता है वह लेकर उत्पन्न होता है, जिस तरह बीज में वृक्ष समाया रहता है। मुझे तो ऐसा भी लगता है कि हीनता-ग्रंथि और बधिरता दोनों ही युगपत् रूप से ही मेरे व्यक्तित्व में समाहित हुए। या यह भी हो सकता है कि बधिरता ने हीनता-ग्रंथि को उत्पन्न किया और हीनता-ग्रंथि ने बधिरता को। आज यह पता लगाना कठिन है कि कौन कारण है और कौन कार्य ?

ऊपर मेरे संगीत-प्रेम की बात छिड़ गई है। इसी के साथ एक और स्मृति जुड़ी है जिसके उल्लेख से पता चल सकता है कि कौन-सी शक्तियां मुझे जवान बना रही थीं। आरा नगर में डीन साहब के तालाब के पास ठीक दो कदम की दूरी पर **'जोड़ा मंदिर'** है। **'जोड़ा मंदिर'** की संज्ञा इसे इसलिये दी गई होगी कि यहां पर दो मंदिर हैं। ये दोनों मंदिर क्यों बनाये गये और किसने बनाये यह मुझे ज्ञात नहीं और न मैंने कभी जानने की चेष्टा की। पर मेरी कल्पना है कि श्री दयानन्द सरस्वती इत्यादि के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में जो धार्मिक पुनरुत्थान का आन्दोलन चलाया गया था उसी का परिणाम यह होगा। ये मंदिर तो आज भी हैं पर मानो श्रीहीन से, कोई भी देख-रेख करने वाला नहीं। पर जिस समय की बात कर रहा हूं उस समय ये जीवन और जागृति के केन्द्र थे। मुझे खूब याद है कि प्रति रविवार को यहां पर धार्मिक प्रवचन होते थे और लोग उत्साह से उनमें सम्मिलित होते थे। यों तो वहां पर मैंने कांग्रेस की सभाएं होते देखी हैं पर वहां पर अधिकतर सनातनधर्म सम्बन्धी भाषण ही होते थे। पं० रामानन्द मिश्र, श्री रामानन्द सिंह तथा पं० रामचरित्र पांडेय ये तीन व्यक्ति सनातनधर्म के नेता थे। इनमें पं० रामानन्द मिश्र का नाम बहुत याद है। ये मेरे घर के ठीक सामने रहते थे। बहुत ही अनुभवी वैद्य थे। संस्कृत की एक पाठशाला भी चलाते थे। मैंने इनके शिष्यत्व में ही बिहार संस्कृत एसोसियेशन की प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। सबसे बड़ी बात यह कि वे बधिर थे। जब भोजन के समय उनकी पुत्री जोर से तार-स्वरेण भोजन के लिये पुकारती थी 'बाबू जी खाने चालिये' तो हम लोग उसे सुनकर बड़ा आनंद मनाते थे और हंसते थे। उस समय मैंने क्या कभी कल्पना भी की थी कि मेरी भी हालत कभी इससे भी हीनतर हो जा सकती है। पर **'लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः'**। पर यह भी बात सही हो सकती है और आज मनोवैज्ञानिक आलोक में चेतन-अवचेतन के सिद्धान्तों के सहारे इसका समर्थन भी कर सकता हूं—कि जहां मेरी अज्ञात चेतना उनकी बधिरता को ग्रहण कर रही

थी वहां उनकी कर्मठता, कर्मण्यता, विद्वत्ता, परिस्थितियों से टक्कर लेने की क्षमता इत्यादि को भी क्रमशः ले रही थी। वे थे बधिर पर उनकी जीविका थी, रोगोपचार जिसमें अधिक सुनने की आवश्यकता पड़ती है। वे थे बधिर और जन-सम्पर्क में आने में बड़ी कठिनाइयां थीं पर वे सनातनधर्म आन्दोलन का नेतृत्व करते थे, जिसमें विपक्ष के तर्कों को सुनकर उनका मुंहतोड़ उत्तर देना पड़ता था। आज उनके जीवन को मानस-पटल के सामने लाता हूं तो ऐसा लगता है कि मेरी काया के भीतर उनकी आत्मा प्रविष्ट कर गई है और मैं अपना जीवन नहीं, उनका जीवन जी रहा हूं। यों तो हम जिसे अपना जीवन कहते हैं वह भी पूर्णतया अपना जीवन कहाँ होता है? दूसरे हमारी काया में प्रवेश करते हैं और हम दूसरों की काया में प्रवेश करते हैं और इस तरह हम अपने पिंड में ब्रह्माण्ड को समेटे हुए तथा ब्रह्माण्ड में अपने पिंड को बिखेरते हुए प्रगतिशील रहते हैं और यह संस्कृति-प्रवाह का नैरन्तर्य कायम रहता है। पर कभी-कभी कोई रंग अधिक उभर आता है और उसी के आधार पर जीवन-व्यापारों को किसी संज्ञा से अभिहित कर दिया जाता है।

मैं यहां पर अपने यौवन-काल की याद कर रहा हूं और उन तत्त्वों को ढूंढने का प्रयत्न करना चाहता हूं जिन्होंने मुझे जवान बनाया अर्थात् मेरी जीवनशैली का निर्माण किया अर्थात् वह बनाया जो आज हूं। अथवा जो पच्चीसी या तीसी में बन गया था और आज तक उसकी पुनरावृत्ति करता चला जा रहा हूं। अतः श्री रामानन्द जी मिश्र की ओर हसरत भरी निगाह से देखना और उनका विश्लेषण करना आवश्यक हो गया है। निश्चय ही उनका प्रभाव मुझ पर अधिक है। बधिरता के बावजूद वे जनसम्पर्क में आते थे और उसे खूब enjoy करते थे। मैं भी जनसम्पर्क में कम नहीं आता और कम enjoy नहीं करता। वे वैद्य थे, रोगों की चिकित्सा करते थे। मैं भी डाक्टर हूं और चिकित्सा करता हूं, शारीरिक रोगों की नहीं, मानसिक रोगों की। मतलब विद्यार्थियों के मस्तिष्क की दुर्बलता को दूर कर उन्हें प्रौढ़ बनाता हूं। वे आयुर्वेद के ग्रन्थों, माधव-निदान, वागभट्ट, चरक, सुश्रुत को देखकर नुस्खे बताते थे, मैं भी काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर में उल्लिखित सिद्धांतों को बताता हूं। शैली भी करीब-करीब उन्हीं की है। उनके अध्यापन में नाटकीयता थी, शायद वह मुझ में भी है। उनके अध्यापन में रोचकता रहती थी, वह शायद मुझमें भी है। वे छात्रों में बड़े लोकप्रिय थे, वह शायद मैं भी हूं। उनकी बातें इतनी मिलती हैं कि मैं तो आज याद कर आश्चर्य चकित हो जाता हूं। एक घटना का उल्लेख करने दीजिए।

यह तो सही है कि आज जितना भोलाभाला, शांत-सौम्य मालूम पड़ता हूं उतना तो उस समय नहीं ही था। जिसे आफत का परकाला कहते हैं वह तो

कभी भी नहीं रहा। यह मैं अपने विचार से कह रहा हूं। मेरे पिता जी से पूछिए तो वे कुछ दूसरी ही बात कहें। पर हां, कुछ शैतान जरूर था। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उनसे छेड़छाड़ करने में, उन्हें चिढ़ाने या तंग करने में बड़ा आनन्द आता था। श्री रामानन्द जी मिश्र की अध्यापन-शैली कुछ मनोरंजक तो थी ही। मुझे याद है कि कालिदास के रघुवंश में जब वे दिलीप की गो-सेवा का वर्णन पढ़ाने लगते थे तो ऐसी उछलकूद करने लगते कि मुझे तो हँसी आए बिना नहीं रहती थी। और हंसी की प्रकृति यह है कि वह निरोध से ही शक्ति-ग्रहण करती है, जितना ही रोकने का प्रयत्न करो कि वह उतना ही अन्दर से फूट पड़ती है। एक दिन रघुवंश पढ़ा रहे थे। नंदिनी को सिंह ने धर दबाया है और वह दिलीप से कहता है :

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्धस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥

(सामने वाले उस देवदारु के वृक्ष को देखते हो न) पढ़ते समय उन्होंने ऐसी त्वरा, ऐसी अदा, ऐसी नाटकीयता के साथ तर्जनी परिचालित की कि मेरे अन्दर अट्टहास का भाव ही फूट पड़ा। पंडित जी ने पहले तो गंभीर मुद्रा-संकेत से ही मुझे नियंत्रित करने की चेष्टा की पर इस पर भी मैं काबू में नहीं आया तो उन्होंने ऐसा रौद्र रूप धारण किया मानो आज प्रलय होकर ही रहेगा। वहां की भूमि पर भूकम्प आ गया, पुस्तक बिचारी आसमान में उड़ गई, लोगों में हड़कम्प छा गया और मेरे तो प्राण ही कूच कर गए। फिर तो कौन पढ़ता है और कौन पढ़ाता है। पाठशाला बंद। मैं इसलिए इस घटना का उल्लेख कर रहा हूं कि यहां पर प्रसंगवश मिश्रजी से मेरी तुलना की बात चल पड़ी है। अभी दो दिन पहले (२०। १०। ६५ को) बस इसी हास्य-नियंत्रण-कांड के प्रसंग में एक छात्र को बुरी तरह डांट कर चला आ रहा हूं उसी कार्य के लिए जिसके लिए एक जमाने में मैं घोषित अपराधी था। दुनिया में किस तरह चक्र परिवर्तन होता है। मैं मिश्र जी बन गया हूं और ये छात्र मेरे स्थानीय हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षक सदा शिक्षक रहेंगे और छात्र छात्र।

मतलब यह कि इसी प्रकार की कुछ शक्तियों और प्रेरणाओं के द्वारा मेरे व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा था। उसमें कुछ धार्मिक तत्त्व भी थे। कुछ राजनीतिक भी और सामाजिक भी। राजनीति तो उस समय की देन थी। गांधी जी दक्षिणी अफ्रीका से अभी आए ही थे, प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था, रौलट ऐक्ट और जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के घाव ताजे थे। असहयोग आन्दोलन, एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य वाला आन्दोलन, छिड़ा ही था। इस तरह सामयिक मांग के अनुसार देश की सारी सक्रियता राजनीति में आकर केन्द्रित हो गई थी। पर आज जब विचार करता हूं तो लगता है वह मिट्टी,

जिसके आधार पर मेरा व्यक्तित्व खड़ा हो रहा था, धर्म की मिट्टी थी। हां राजनीति के जल से वह आर्द्र भले ही की गई हो पर मिट्टी थी धर्म की ही। क्योंकि वे घटनायें जिन्होंने मेरे जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है उनका संबंध धार्मिक संस्थानों से है। वे प्रायः धार्मिक स्थानों में, मंदिरों में घटित हुई थीं।

मैंने ऊपर अपनी संगीत-प्रियता तथा 'जोड़ा मंदिर' की बात की है। इसी जोड़े मंदिर पर कांग्रेस की ओर से असहयोग आन्दोलन के प्रचार के लिए की जानेवाली सभा में मैंने सरदार हरिहर सिंह को बड़े ही सुरीले, मधुर तथा प्रभावोत्पादक ढंग से गीत गाते हुए सुना था। **'भारत जननी तेरी जय हो विजय हो।'** सरदार हरिहर सिंह को बड़ा ही अपूर्व कंठ मिला था। वे अपने गीतों से जनता को मंत्र-मुग्ध कर लेते थे। वे सौभाग्य से आज भी हमारे बीच मौजूद हैं। हां कांग्रेस से जरा उदासीन हो गए हैं। पता नहीं कि उनके कंठ में आज भी वैसी ही लोच है या नहीं। पर उस समय उसमें जादू का असर था। गांधी के बारे में उस समय एक कविता बनी थी :

तेरी नसीहतों में जादू का असर है,
जिसको लगी हवा वह तो इन्सान बन गया।

आज यही कहने की इच्छा होती है कि हरिहर

तेरे कण्ठों में जादू का असर था,
जिसको लगी हवा वह तो इन्सान बन गया।

हरिहर से इस सम्बन्ध में कोई प्रतिस्पर्धा कर सकता था तो एक ही व्यक्ति था, श्री मनोरंजन। वे हिन्दू युनिवर्सिटी के छात्र थे। यद्यपि उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग तो नहीं लिया था पर हिन्दू युनिवर्सिटी तो इन आन्दोलनों की शिक्षण-भूमि थी ही, वहां का वातावरण ही विदेशी सरकार के प्रति विद्रोह के भावों में परिव्याप्त था। अतः जो छात्र असहयोग इत्यादि आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं लेते थे, जेल नहीं जाते थे, पुलिस के डंडे नहीं खाते थे उनमें भी स्वातंत्र्य-आन्दोलन के प्रति एक सहानुभूति तो थी ही। अतः मनोरंजन राजनीतिक उद्देश्य से संगठित सभाओं में जाते थे। और वहां पर अपने गले के माधुर्य से लोगों के अन्दर जीवन और जागृति का संचार करते थे। मैंने उन्हें केवल एक बार ही गाते सुना है, मुजफ्फरपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, जबकि स्व० पद्मसिंह शर्मा उसके अध्यक्ष थे। मनोरंजन ने ही स्वागत गीत गाया था। मैं सच कहता हूं वैसी मधुर स्वर-लहरी मैंने आज तक नहीं सुनी। स्वागत गीत की कुछ पंक्तियां आज भी याद हैं :

स्वागत है आज तुम्हारा
वैशाली के प्रांगण में,

इस सूनी सी कुटिया में
इस उजड़े से उपवन में
स्वागत है आज तुम्हारा
प्राणों के प्रतिकम्पन में।
आए हो मेरे घर तुम
कैसा है मोद मिलन में,
ऐसी घड़ियां आती हैं
बस कभी-कभी जीवन में।

मनोरंजन भाग्य से हमारे बीच मौजूद हैं। देवघर विद्यापीठ के उपकुलपति हैं। अब अपने गीतों से आग-पानी न बरसा कर भक्ति रस की कविताओं से पाठकों के हृदय को रसार्द्र करते हैं। इनकी चर्चा अभी और होगी पर हरिहर की चर्चा चल पड़ी थी। अतः उसे समाप्त कर लिया जाय।

तो इसी हरिहर का गीत सुना था। गीत की कुछ कड़ियां आज भी याद हैं :

भारत जननी, तेरी जय हो विजय हो।
भारत जननी, तेरी जय हो विजय हो।
तू शुद्ध अरु बुद्ध तू प्रेम-आगार
तेरा विजय-सूर्य माता उदय हो।
तेरे लिए जेल हो स्वर्ग का द्वार
बेड़ी की झन-झन में वीणा की लय हो।
गांधी रहे, व तिलक आप फिर आवें,
अकबर शिवाजी का फिर से उदय हो।
आवें पुनः कृष्ण देखें दशा तेरी
सरिता सरों में भी बहता प्रणय हो।
कहता खलील आज हिन्दू मुसलमान
गावें सभी मिलि के जय तेरी जय हो

वास्तव में मेरी इच्छा भाई मनोरंजन की बात छेड़ने को न थी। पर न जाने किस तरह उनकी बात छिड़ ही गई। मेरा उनसे कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। वे मुझसे उम्र में बड़े थे, मैं जिस समय छात्र था, वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के लेक्चरर हो गए थे, बिहार के उदीयमान नक्षत्रों में से तो थे ही। अतः उनका मुझ पर तो प्रभाव था ही और मेरा विश्वास है कि बिहार में मनोरंजन से प्रभावित मेरे जैसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं है। पर यह सही है कि मुझे उनके अधिक सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिल सका था। आवे भी कहां से ? जब तक पिता के संरक्षण में रहा, दूसरों से

मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध रहा। मैं अपनी जन्मभूमि बिहार में रहा। कह लीजिए की जब तक लड़का रहा तब तक बिहार की भूमि पर खेलता रहा। पर जब अपने पैरों पर खड़ा होने लगा कि राजस्थान में चला आया। मैं यदि अपने को एक स्त्रीरूप में कल्पित करूं तो बिहार मेरा मायका है, पितृगृह है। राजस्थान मेरा श्वसुरगृह है, पतिगृह है। बिहार मेरी जन्मभूमि है पर मेरी कार्य-भूमि है राजस्थान। पर मैं बिहार की कन्या हूं, राजस्थान की बहू हूं। यही कारण है कि आज अपने प्रान्त के लिए ही विदेशी-सा बन गया हूं और लोग मुझे भूल गए हैं या भूलते जा रहे हैं। यही कारण है कि मनोरंजन जैसी बिहार की विभूतियों के सम्पर्क में नहीं आ सका। नहीं तो मेरी बड़ी प्रबल कामना थी कि मैं, भाई हरिहर, मनोरंजन, बेनीपुरी, दिनकर जैसे साथियों के कंधे से कंधे भिड़ाकर प्रान्त के रथ को खींचता। आज भी प्रदेश अपना साथ नहीं छोड़ता, घेरे चल रहा है। भाई मनोरंजन को यदि ये पंक्तियां कहीं पढ़ने को मिलें तो उनके ही कुछ शब्दों को उधार लेकर कहूं, **आजुओ बिहारवा के करके सूरतियां फाटेला करेजवा हमार मनोरंजनवा**' अर्थात् "हे मनोरंजन, आज भी अपनी प्रान्त भूमि बिहार की याद कर मेरी छाती फट जाती है।"

यहां पाठकों को आश्चर्य होता ही होगा कि मनोरंजन की कथा क्यों ले बैठा। ऊपर मैंने स्वीकार कर ही लिया है कि उनके सम्पर्क में कम आया हूं। केवल एक-दो बार किसी सभा में मुलाकात हो गई अथवा किसी विशाल जन-समूह में उन्हें कोई राष्ट्रीय गीत गाते हुए सुन लिया तब उन्हें अपने जीवन की अन्तरंग कथा के बीच लाने की क्या आवश्यकता थी? जिस व्यक्ति से अति घनिष्ठ सम्बन्ध न हो उसको जीवन के रहस्यों के अन्दर स्थान देने में क्या तुक है। पर सच मानिए अपनी विचार-धारा के इस मोड़ पर या लेखनी की इस फिसलन पर मुझे भी कुछ कम आश्चर्य नहीं है। पर मैं मनोवैज्ञानिक हूं और मानव के चेतन एवं अचेतन के ऐन्द्रजालिक व्यापारों से परिचित हूं। मैं जानता हूं कि वे अचेतन की शक्तियां किस तरह छद्मवेश धारण करती हैं, और बाहर से निरीह लगने वाले व्यापारों के बीच बैठकर अपने अस्तित्व की सूचना देती हैं। अतः मनोरंजन जी से मेरे व्यापक सम्बन्ध भले ही नहीं रहे हों पर उनसे जो कुछ भी सम्बन्ध रहा उसकी कल्पना मेरे जीवन के मर्मस्थल को छू सकी है अवश्य। तभी तो इतने आवरणों को छेदकर उनकी स्मृति मानस के ऊपरी स्तर पर उभर आती है। नहीं तो जीवन में न जाने कितने लोगों से सम्पर्क हुआ होगा पर उनकी स्मृति को काल-पुरुष ने ऐसे गहरे में दफनाया कि कुरेदने पर भी उनका पता नहीं चलता पर यह मनोरंजन-स्मृति मना करने पर भी सामने खड़ी ही दीखती है।

अतः इसका भी कोई जबरदस्त कारण होना चाहिए। और है भी। आज

के मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य-जीवन की मूलप्रवृत्तियों में काम को कितना महत्व-पूर्ण स्थान दिया है, यह सबको विदित है। भारतीय मनीषयों ने भी चार पुरुषार्थों में इसकी गणना की है। मनोवैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि जो घटनायें याद रहती हैं, उन्हें हम याद रखना चाहते हैं। वे किसी न किसी भांति अति प्यारी होती हैं, उनका सम्बन्ध Pleasure principle से होता है। जो घटनाएं विस्मृति के गर्भ में पड़कर विलीन हो जाती हैं, जिन्हें वास्तव में हम भूलना चाहते हैं, उनका दमन करना चाहते हैं, उनका सम्बन्ध Reality principle से होता है। अतः आज जब मैं मनोरंजन-स्मृति वाली घटना पर विचार करता हूं तो मेरे सामने सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं और कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। अतः पहले उसी का उल्लेख कर लूं। बाद में उस पर टीका-टिप्पणी होती रहेगी। बात यह है कि मनोरंजन की स्मृति में काम-भाव का भी हल्का स्पर्श है, जिसके कारण वह इतनी दीर्घजीवी हो रही है।

प्रथमतः तो उनका व्यक्तित्व बड़ा ही भव्य, दिव्य और सौन्दर्यमय था। जो अनायास दर्शकों को आकर्षित करता था। वह दिव्य-वपु, वह गौरवर्ण, वह तेजोमयकान्ति लोगों के भीतर पैठ कर अन्तस् को उद्‌भासित करनेवाली संसार में विरल होती है। आजानुविलम्बित कौषेय कुरता धारी, यौवन के तेज से दमकता हुआ उनका गांभीर्य-मनोहर मुख, रोरी-तिलक-सुशोभित ललाट, हाथ में घड़ी—उनके इस मनोहर रूप का प्रथम दर्शन मैंने १९३० या १९३१ के मुजफ्फरपुर में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में प्रथम-प्रथम किया था। स्व० पं० पारसनाथ त्रिपाठी ने उनका मुझसे परिचय कराया था। आज जब त्रिपाठी जी की याद आती है तो मेरी छाती फट जाती है। दुःख इस बात का होता है कि बिहार के साहित्यिक अपना-अपना उल्लू सीधा करने में आज इतने व्यस्त हैं कि साहित्यिक वातावरण की नींव डालनेवाले आदि पुरुषों की स्मृति तक भी नहीं रखते। मुझे याद है कि त्रिपाठी जी आरा के सूरजपुरा हाउस में हिन्दी के प्रसिद्ध शब्दशिल्पी राजा राधिकारमण प्रसाद जी से जब मेरा परिचय कराने के लिये ले गये थे तो राजा जी ने जो शब्द कहे, उनमें से कुछ आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं—"आप त्रिपाठी जी के दामाद हैं, मेरे दामाद हैं। त्रिपाठी जी ने ही मुझे साहित्य-जगत् में प्रवेश कराया है। उन्हीं की कृपा से मैं कुछ कर सका हूं। उन्होंने वह बुरी लत लगा दी कि **"छुटती नहीं मुंह से काफिर लगी हुई।"** मैं कभी विस्तारपूर्वक त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने की चेष्टा करूंगा। आज अभी इतने से ही संतोष करें कि जब उनकी पुत्री (मेरी धर्मपत्नी) की मृत्यु असमय ही छोटी अवस्था में हो गई तो हम दोनों कितना साथ रोये थे, बहुत दिनों तक रोते रहे। यहां तक कि एक बार तो हम दोनों ने एक साथ ही आत्म-हत्या कर लेने की कल्पना

की थी। आज प्रथम बार इस रहस्य का उद्घाटन हो रहा है। उपन्यासों में जब मैं पात्रों की, प्रेमियों की आत्म-हत्या की बात पढ़ता हूं तो दूसरों को आश्चर्य भले ही होता हो पर मुझे तो जरा भी नहीं होता।

ये परिस्थितियां ही ऐसी हैं जो किसी भी वस्तु-घटना विशेष को मधुर-स्मृति में बस जाने की योग्यता प्रदान कर सकती हैं। ऐसा कि भुलाने की कोशिश बहुत हो पर याद करने को जी चाहे। तिस पर भी अभी तक इस बात की चर्चा शेष है जिसने मनोरंजन को मेरी स्मृति से अच्छेद्य रूप से सम्बद्ध कर दिया है।

मैंने अभी पं० पारसनाथ त्रिपाठी की चर्चा की है। उनकी पुत्री (मेरी प्रथम पत्नी) का देहान्त हुए चार वर्ष हो चुके थे। मैंने दृढ़ प्रतिज्ञा की थी कि एक पत्नीव्रती रह कर जीवन व्यतीत करूंगा। इसीलिये चार वर्षों तक अविवाहित रहा। नहीं तो कन्याओं की क्या कमी थी। मेरे जैसे सुशील, सम्पन्न, शिक्षित नवयुवक का ब्राह्मण समाज में बहुत अभाव था। विवाह के बाजार में मेरी कीमत बहुत बढ़ी थी। जब कोई व्यक्ति मतलब नातिपरिचित व्यक्ति, पिता जी से मिलने आता था, वे अनुमान कर लेते थे कि विवाह के बारे में ही बातचीत करने आया होगा। वैसी परिस्थिति में मेरा यह चतुर्वर्षीय विधुर-जीवन लोगों को आश्चर्य चकित कर रहा था। पर न जाने कब किस तरह मुझमें यह परिवर्त्तन होने लगा और मैं इन्टर में पढ़नेवाली शिक्षिता कन्या के लिये अनिच्छन्नपि तरलभाव धारण करने लगा जो अन्त में चलकर वैवाहिक बंधन के रूप में ही परिणत होकर रहा।

इस कन्या के बारे में कुछ लिखना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यदि यह नहीं होती तो कम से कम मैं चार वर्ष और अविवाहित अवश्य रहता। यह कन्या संस्कृत साहित्य के अद्वितीय विद्वान् स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा की कन्या थी। शायद बिहार में, कम से कम ब्राह्मण समाज में, यह प्रथम परिवार था जिसमें संस्कृत के एक विद्वान् ब्राह्मण की कन्या उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही थी। बचपन से ही इस परिवार तथा इस परिवार की कन्याओं की चर्चा सुनता आ रहा था और मन में कल्पना करता था कि काश मेरा विवाह भी इन कन्याओं में से एक के साथ हो। पर मेरी शादी हो गई दूसरी जगह और फिलहाल वह कल्पना जहां की तहां रह गई। पर मेरी प्रथम पत्नी की मृत्यु की दुर्घटना से पुनः यह कल्पना जगने लगी। मैं एक बात और भी कहूंगा। कुछ स्त्रियां जन्म से ही सतीत्व और साध्वीत्व की साधना लेकर आती हैं। उस महिला की अन्तर्प्रज्ञा ने मेरे हृदय में दुबकी हुई इस आकांक्षा को देखा होगा और उसने मर कर मेरे लिये मार्ग प्रशस्त किया। नहीं तो इतनी जल्दी मरने का कोई कारण नहीं था। स्वास्थ्य भी उसका खराब नहीं था, दवादारू में भी किसी तरह की त्रुटि नहीं हुई। तो सिवा इसके कि मृत्यु की कोई आन्तरिक

लाचारी थी दूसरा कारण क्या हो सकता है ? खैर, इस नई लड़की से पत्र-व्यवहार प्रारंभ हुआ। कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ, यह एक अवान्तर प्रसंग है। पत्र-व्यवहार की परिणति मिलने-जुलने में हुई। यह कन्या हिन्दू विश्वविद्यालय में इण्टर में पढ़ती थी। रहती तो छात्रावास में ही थी पर छुट्टियों में अपने संबंधी रामदेव तिवारी के यहां जा जाती थी, जो उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे। होस्टल में मिलना तो सम्भव नहीं था, क्योंकि कितने ही औपचारिक बंधन थे जिनको पार कर ही मिलना सम्भव हो सकता था। मैं सब कुछ होते हुए भी एक देहाती था, सीधा-सादा, भोला-भाला, जिसको अंग्रेजी में retiring या unassuming nature का व्यक्ति कह लीजिये। हां घर पर मिलना हो सकता था। पटने में तो एकाध बार मिल भी आया था। अतः, एक दिन, ठीक वर्ष याद नहीं १९३०-३१ होगा; क्योंकि उस समय गांधी जी का भद्र-अवज्ञा आन्दोलन चरमोत्कर्ष पर था, हम लोग उसमें काम कर रहे थे—मैं तिवारी जी के घर पर ही उससे मिलने गया। तिवारी जी कहीं बाहर गये थे। हम दोनों ड्राइंग रूम में बैठ कर बातें कर रहे थे, क्या बातें कर रहे थे यह तो कुछ आपकी कल्पना के लिए छोड़ देता हूं और कुछ उपयुक्त अवसर के लिये। हम लोग बात कर ही रहे थे कि तिवारी जी बाहर से आ गये। मुझे देख कर एक क्षण के लिए प्रश्न-मुद्रा में खड़े रहे। फिर बाद में चले गये।

मनोरंजन वहीं पर हिन्दू विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के लेक्चरर थे और तिवारी जी के परिवार से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। वे वहां सदा आते-जाते रहते ही थे। एक दिन विवाह के लिए चर्चा चली। मनोरंजन ने तपाक से कहा—Why do you care for her marriage ? Davraj comes and meets her. She will hunt out a husband. यद्यपि तिवारी जी का परिवार बहुत advanced था, लड़कियों को शिक्षा दी जा रही थी पर उनके परिवार की या किसी संबंधी की लड़की के बारे में यह कहा जाय कि 'She will hunt out a husband' यह उनके लिये असह्य था। तब से उन्होंने यही तय किया कि इस लड़की की शादी मुझसे ही होनी चाहिये और शीघ्र। पर मोरंजन की चुभती हुई इस युक्ति ने भी अपना पार्ट अदा किया ही था। अतः अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि मनोरंजन की स्मृति हमारे लिये इतनी प्रिय क्यों हो गई है।

मतलब यह कि ये ही परिस्थितियां थीं जो मुझे बना रही थीं या बिगाड़ रही थीं। इस अवधि में भारत-व्यापी दो बड़े सशक्त राजनीतिक आन्दोलन हुए। १९२०-२१ का असहयोग तथा १९३०-३१ का भद्र अवज्ञा आन्दोलन। इनके बीच और न जाने कितने आन्दोलन चलते रहे। सर्वश्री मदनमोहन

मालवीय, लाला लाजपतराय, सी० आर० दास, पं० मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्रप्रसाद, विपिनचन्द्रपाल, श्री कृपलानी के ओजस्वी भाषणों को सुनने के अनेक अवसर मिले। पटने के साथियों में रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, दिनकर, गंगाशरण सिंह प्रमुख साथियों में रहे। हां आतंकवादियों से मेरा संपर्क नहीं हो सका, हालांकि सरकार को इस बात की आशंका अवश्य थी कि मेरा भी इन लोगों से संपर्क अवश्य है और इस सम्बंध में कुछ enquiry वगैरह भी आरंभ हुई थी। जितने नेताओं के नाम मैंने लिये हैं उनमें से मालवीय जी, श्री कृपलानी तथा विपिनचन्द्रपाल के भाषणों का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। मालवीय जी की सौम्यमूर्ति, उनकी मंजी परिमार्जित सधी भाषा श्रोताओं को मुग्ध कर लेती थी। वे सनातन-धर्मी थे और विचारों में कुछ पिछड़े समझे जाते थे। कांग्रेस का साथ उन्होंने कभी नहीं छोड़ा पर राजेन्द्र बाबू, जवाहरलाल की तरह उसमें कभी घुले-मिले नहीं। हम जैसे उग्रपंथी नवयुवक उनको मशकूक नजरों से देखते थे। पर उनके भाषणों में कुछ ऐसा जादू था जो सबके सिर पर चढ़ कर बोलता था। आज ता० ३१ अक्तूबर १९६५ है। मैंने विगत रात्रि को ही एक स्वप्न देखा है। एक पत्र-सम्पादक अपने कार्यालय में बैठे हैं। वे सम्पादक होंगे तो परिचित ही पर इस समय याद आ नहीं रहा है कि वे कौन थे। मैं भी वहां बैठा हूं। उन्होंने सब काम समाप्त कर एक नववयस्क कर्मचारी को बुलाया और एक गीत गाकर उसे सिखाने लगे। जैसे ही उस गीत की पहली कड़ी गाई, **'नाश हो उस नर्म दल का गर्म दल की आंच से'** तब तक मैंने ही दूसरी कड़ी गाकर जोड़ दी, **'मालवी जी से मोमदिल जिसमें पिघल जाने लगे।'** आज वह पूरा गीत मुझे याद नहीं पर उसकी प्रथम दो पंक्तियां याद हैं—

अब तो भारत में महाभारत के दिन आने लगे।
धर्म के रण-क्षेत्र से क्यों वीर घबड़ाने लगे॥

मालवीय जी उस समय के बड़े ही विवादास्पद व्यक्ति थे जिसे अंग्रेजी में Controversial figure कहते हैं। उनके विरोधियों की ओर से कहा जाता था कि :

कहते हैं मालवीय जी हम होमरूल लेंगे॥
............गूलर का फूल लेंगे॥

तब इसके उत्तर में मालवीय जी के समर्थकों की ओर से कहा जाता था कि :

जब स्वराज्य होगा बरबैंक जन्म लेंगे।
हां, हां, जनाब तब तो गूलर भी फूल देंगे।

इस तरह के लोक-प्रचलित गीतों, गानों, कहावतों, चुटकुलों के अन्तराल में जो इतिहास की, राष्ट्रीय जीवन की एक वेगवती, प्राणवती धारा छिपी है

उनके आधार पर जो इतिहास लिखा जाय उससे भारतीय आत्मा का एक उज्ज्वलतर रूप सामने आयेगा। समय आ गया है कि इनके आधार पर इतिहास लिखा जाय। नहीं तो सामग्री नष्ट होती जा रही है और काल की गर्दिश में पड़ कर सब नष्ट हो जायगी और हाथ मलना ही हमारे हाथ रह जायेगा। पर मैं तो देश का इतिहास लिख नहीं रहा हूं। यदि इतिहास ही लिख रहा हूं तो अपना इतिहास लिख रहा हूं। उसमें भी पूरा इतिहास नहीं, अपनी जवानी के प्रारंभ का इतिहास। उसमें भी पूरी जवानी का नहीं, जवानी के दो दिन का, उसमें भी उस दिन का जब मैं पूर्ण से युवा बन गया। अभी मैंने एक स्वप्न का उल्लेख किया है। जब से फ्रायड ने अपनी interpretation of dreams नामक पुस्तक को प्रकाशित किया तब से स्वप्नों के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान गया है। फ्रायड ने स्वप्न के दो विभाग किये हैं— manifest content और latent content और उसने उसमें Latent content को ही महत्त्व दिया। यह भी कहा है कि स्वप्न-तंत्र में वास्तविक महत्त्व Latent content का ही है। manifest content तो उसी का छद्मवेशी रूप है। ऊपर जिस स्वप्न का उल्लेख किया गया है वह निश्चय ही manifest content है। यदि इसके निर्वचन द्वारा latent cantent का अन्वेषण करें तो उन शक्तियों का स्पष्ट ज्ञान होगा जो मेरे जीवन, मतलब मेरी जवानी, का निर्माण कर रही थीं। पूरे स्वप्न-तंत्र की प्रक्रिया का वर्णन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। पर यह तो सही है, Commonsense की बात है कि स्वप्न जीवन की अनेक भूत-वर्तमान, घटनाओं, वार्ताओं तथा शक्तियों का पिण्डीभूत रूप है। पाणिनि के सूत्र प्रसिद्ध हैं। सूत्रों की परिभाषा देते हुए यह कहा है :

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धम् सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभंमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

उसी तरह मेरी कल्पना में स्वप्न जीवन-व्याकरण के सूत्र हैं और आकार में लघु होने पर भी अपने अन्दर एक बृहद् इतिहास छिपाये रहते हैं, देखने में ऊट-पटांग से मालूम होते हुए भी बहुत ही सार्थक होते हैं, और ध्यानपूर्वक देखने पर बहुत गंभीर रहस्यों का पता दे सकते हैं। L. A. G. strong ने अपने एक स्वप्न का उल्लेख किया है। एक रात को जब वे जगकर उठे तो स्वप्न में देखे विज्ञापन के दो शब्द HIGGERTH MIZZERS बार-बार याद आने लगे। बाद में उन्होंने पता लगाया या कहिये कि उन्हें पता चला कि यह तो HARRY, MIZLES और MISTOR इन तीन शब्दों के मिश्रण, सम्मिश्रण से बना है। पहला एक खिलाड़ी का नाम है, दूसरा उसके प्रिय घोड़े का, और तीसरा एक स्थान का जहां पर उन्होंने अपने जीवन के आनन्द लूटे

थे। ये तीनों वस्तुएं उन्हें बहुत प्यारी थीं। आज वे ही भेष बदल उनके सामने आ रही हैं। इसके बाद बार-बार याद आने वाले शब्द निरर्थक से न रह गये। उनमें एक विचित्र अर्थवत्ता तथा इतिहासवत्ता-सी दीखने लगी।

अब आप मेरे छोटे स्वप्न पर विचार करें और मेरे जीवन के संचालक सूत्रों को ढूंढें। मैं एक संपादक के कमरे में हूं। इस समय यह तो याद नहीं आ रहा है कि नगर कौन-सा है पर वह जरूर ही बनारस रहा होगा। इस दृश्य में मेरे तरुण जीवन की महत्त्वपूर्ण आकांक्षायें छिपी हैं। एक सफल सम्पादक होना मेरे जीवन के स्वप्नों में से था। मैं स्पष्ट देखता था, पत्र-पत्रिकाओं का तत्कालीन समाज की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ता है। सम्पादकों की कितनी प्रतिष्ठा है। गांधी जी स्वयं संपादक थे, राजेन्द्र बाबू भी 'देश' के संपादक थे, शिवपूजनसहाय ने न जाने कितने पत्रों का सम्पादन किया था। यह न समझिये कि पत्रों में आज जो तू-तू मैं-मैं चलती है वह कोई नई वस्तु है। उस समय भी थी। मुझे याद है कि उस समय 'बिहार-बन्धु' या वैसे ही किसी नाम का पत्र निकलता था। संपादक का नाम था शयाद वटुकनाथ या वटुकदेव शर्मा। इन्होंने 'उल्टी गंगा' शीर्षक एक लेख-माला प्रकाशित की थी जिसका उद्देश्य ही था राजेन्द्र बाबू को बदनाम करना। उन्होंने राजेन्द्रप्रसाद का नाम बदल कर ठगेन्द्रप्रसाद कर दिया था। हम लोग इस माला के लेखों को बड़े मजे लेकर पढ़ते थे। अतः आज स्वप्न में जो मैं एक संपादक के कार्यालय में बैठा हूं वह मेरे प्रारंभिक जीवन अर्थात् यौवन के प्रारंभिक दिनों में मेरे देखे गये स्वप्न का एक टुकड़ा है जो अभी तक मुझे घेरे चल रहा है। स्वप्न का संपादक एक नवयुवक कर्मचारी को संगीत की एक कड़ी सिखला रहा है जिसमें मैं भी सक्रिय भाग लेता हूं। ये सब दृश्य मेरी गीत-प्रियता के ही प्रतीक हैं और मैंने कहा ही है कि जिन दिनों की कहानी इस समय लिखी जा रही है उस समय मेरे हृदय में संगीत के प्रति कितना आकर्षण था। मैं कल्पना करता हूं कि यदि परिस्थितियों ने इस तरह प्रतिकूल रूप नहीं धारण किया होता तो मैं आज एक महान् संगीतज्ञ होता। वैसे तो कितने ही गीत मुझे कण्ठस्थ थे जिनमें बहुत से श्रृंगारात्मक ही थे। उस समय गली-गली में लड़के, तांगेवाले एक गीत गाते फिरते थे :

अगर किस्मत से लैला के गले का हार हो जाता।
जमाने की तो नजरों में खटकता खार हो जाता।

प्रश्न यह होता है कि इन गीतों में से कोई आकर्षक, दिलचस्प, दिलकश, पंक्ति स्वप्न में क्यों नहीं आई ? इससे अनुमान करने का क्या आधार नहीं मिलता कि इन गीतों को मैं गा जरूर लेता था और खूब गाता था पर यदि रागात्मक संबंध किसी से था तो इन्हीं राष्ट्रीय गीतों से और इनमें भी प्रगतिशील राष्ट्रीयता से। क्योंकि स्पष्टतः यहां पर नर्म दल वालों के प्रति अवहेलना

के भाव हैं।

मैं चला था अपने घर से स्कूल और बीच में न जाने कहां-कहां घूम आया, कहां-कहां का कौन-कौन-सा पचड़ा ले बैठा। पर आप यह क्यों भूल जाते हैं कि मैं इस समय युवावस्था में पदार्पण कर रहा हूं, कालिदास के वत्सतर के वृषभ स्पर्शान्निव हूं जो न जाने कितनी कुलाचें मारता है। रहता है अपनी माँ के ही साथ पर न जाने कहां-कहां से कूदफांद आता है। कितनी ही चौकड़ियां भरता है। वही तो यहाँ भी हो रहा है। जरूर मुझे अपने स्कूल की याद है पर मैं इधर-उधर दौड़-धूप कर लेता हूं। यदि यहां यह बात नहीं होती, यदि मेरी विचार-धारा जीवनोप्लव-सी बहुमुखी होकर प्रभावित नहीं होती, एक सीध में बहती रहती तो यौवनोचित चापल्य की बात ही असत्य हो जाती। वह यौवन ही क्या जो चपल न हो और उस यौवन की कहानी ही क्या जिसमें चापल्य न हो। मैंने अलोचकों के द्वारा सुना है कि कथा-वस्तु का जिस ढंग से विकास होता है उससे भी कथाकार के व्यक्तित्व का, उसकी विचार-धारा का, उसकी अभिरुचियों का, उसके मानसिक व्यापार इत्यादि का पता चलता है। यदि मेरी इस कथा में संगठन-सौष्ठव होता, इसकी सब कड़ियां सुश्रृंखलित रहतीं तो यह नवयुवक की कहानी कैसे कहला सकती भला। क्या आप चाहते हैं कि यह स्वयं भर्त्सित हो। जिसको अंग्रेजी में कहते हैं Stand Self Condmned पर फिर चलिए मैं आपको अपने स्कूल में ले चलता हूं।

वहां पर मेरे दो घनिष्ठ मित्र थे। श्री रामरसीलाप्रसाद तथा भुवनेश्वर मिश्र। सौभाग्य से ये दोनों जीवित हैं। मिश्र जी से तो अभी (अक्टूबर में) करीब एक मास पूर्व ही मिल कर पटने से आया हूं और पुरानी स्मृतियों को हरी-भरी करके लौटा हूं। वार्धक्य में जवानी का थोड़ा-सा Injection लेकर। थोड़ा जवान होकर। यों तो मुझमें बुजुर्गी आज भी नहीं आई। आयु का ५७वाँ वर्ष पार कर चुका हूं और व्यवसाय से प्राध्यापक हूं। जिसका संबंध मेरे जीवन को परिचालित करने वाली मूलप्रवृत्ति से हो वह आज भी मुझे प्रेरित कर रही है। मैं प्रारम्भ से ही महत्त्वाकाँक्षी रहा हूं, चाहता यह रहा हूं कि सबसे आगे बढ़ जाऊं। इस प्रवृत्ति से आज भी मुक्त नहीं हो सका हूं हालांकि यह हो जाना चाहिये था। पर यह भी सही है कि मैं प्रारम्भ से यह महसूस करता रहा हूं कि मुझमें न तो उतनी प्रतिभा ही है और न शारीरिक शक्ति। तुलसी ने ये चौपाइयां बद्ध-शिष्टाचार के पालन के लिए लिखी हों।

मति अति नीचु ऊंच रुचि आछी। चहिय अमिष जग जुरै न छाछी।
करन चहौं रघुपति गुनगाहा। लघुमति मोर चरित अवगाहा॥

पर मैं जब यह कहता हूं तो मैं अपने हृदय की सच्ची बात कहता हूं। अतः संभव है कि रसीला के वचनों में मेरी ही अपनी अन्तर्ध्वनि प्रतिध्वनित हो गई

हो। अतः यह घटना मेरी स्मृति का वास्तविक अंश बन गई है।

परन्तु तात्कालिक कारण तो यही दीखता है कि इसी तरह की घटना का उल्लेख मैंने हाल ही में प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव के जीवन में भी पढ़ा है। एक बार वे किसी के यहां प्रीतिभोज में गए। वहां पर उनकी अपने एक पुराने दिवंगत मित्र की पुत्री से भेंट हुई। और उन्होंने अपने मित्र की याद बहुत ही भाव भरे शब्दों में की। मित्र की पुत्री ने उन्हें अपने यहां भोजन पर आने के लिए सादर निमन्त्रण दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार भी कर लिया। नियत तिथि और नियत समय पर उनकी बड़ी प्रतीक्षा होती रही पर वे नहीं आए। दो दिन पश्चात् पुनः उनसे एक पार्टी में मुलाकात हुई। तुर्गनेव सीधे उस महिला के पास आए और कहा—"I was sorry that I could not come and see you···So very sorry but I was prevented. Look at my thumbs." देखो ये कितने-कितने छोटे हैं, ऐसे छोटे अंगूठे वाले व्यक्ति कभी भी अपना संकल्प पूरा नहीं कर पाते। उनके मार्ग में कोई-न-कोई बाधा अवश्य आ जाती है।

अतः मैं सोचता हूं कि मैं जो जीवन में सफल नहीं हो सका, परीक्षा में प्रथम नहीं आ सका, चाहे वह शैक्षणिक परीक्षा हो, पारिवारिक परीक्षा हो, जीवन की परीक्षा हो, उस सब का उत्तरदायित्व मेरी नाक पर है। मेरी नाक सुन्दर तो है। यहां तक कि एक मेरे मित्र मुझे nose boasting man कह कर मेरा उपहास किया करते थे। पर जरा बड़ी जो नहीं। काश वह थोड़ी और बड़ी होती तो क्या बात थी? पर जो नहीं है उसकी क्या शिकायत। तुर्गनेव के अंगूठे छोटे हुए तो क्या? यही कारण है कि अनायास ही राम-रसीला तथा अपनी नाक की याद आ गई है। मैं इसके लिए क्षन्तव्य हूं। अब बुजुर्गी के लिए और चाहिए ही क्या। कक्षा में प्रवेश करने पर तो बुजुर्गी और भी चढ़ जानी चाहिए। पर सच मानिए, विचित्र बात है कि जरा बुजुर्गी रहे भी पर कक्षा में प्रवेश करने पर तो बुजुर्गी न जाने कहां चरने चली जाती है। छात्रगण बाहर मुझसे मिलते हदस खाते हैं पर कक्षा में हिल-मिल जाते हैं। सच मानिए मेरे पास होली और दिवाली के दिन भी कोई छात्र रामा-श्यामा करने के लिए नहीं आता है और न मेरी ओर से इसके लिए कोई प्रोत्साहन ही मिलता है। पर मेरे अध्यापन कक्ष में सब छात्र उपस्थित रहते हैं।

हम तीनों मित्रों में बड़ी घनिष्ठता थी पर प्रतिद्वन्द्व भी था कि विश्व-विद्यालय की परीक्षा में सर्वप्रथम कौन आएगा? हम तीनों उस पद के लिए उम्मीदवार थे। पढ़ने में भी परिश्रम करते थे और गुप्त रूप से यह भी जानने का प्रयत्न करते थे कि इस व्यक्ति में कौन-सी विशेषता है जिसके कारण वह

अन्यों से बाजी मार ले जाता है। कौन-सी किताब पढ़ता है। उसके भोजन इत्यादि में क्या विशेषता है। रात को देर तक जग कर पढ़ता है, या प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर सरस्वती की साधना करता है। उसके शरीर की बनावट में क्या विशेषता है इत्यादि जानने का बड़ा कौतूहल रहता था। हम में श्री रामरसीला प्रसाद जी सचमुच ही प्रतिभाशाली थे। गणित में उनके सबसे अधिक अंक आते थे। यहां तक कि जिस प्रश्न को अध्यापकगण भी हल करने में असमर्थ रहते थे वे उसे भी हल कर देते थे। मैट्रिक परीक्षा में वे ही प्रथम आये भी। पर मुझे भी अच्छे अंक प्राप्त होते थे। अतः, उन्हें मुझसे भी थोड़ा भय तो था ही। एक दिन उन्होंने मुझ से कहा कि तुम्हारी नाक टटोलकर देखना चाहता हूं। और अच्छी तरह जांच-पड़ताल कर देख कर कहा कि तुम प्रथम कभी नहीं आ सकते। तुम्हारी नाक छोटी है। मेरी नाक तुमसे बड़ी है। महान् व्यक्तियों की नाक बड़ी होती है। वेलिंगटन की नाक बड़ी थी तभी वह नेपोलियन पर वाटरलू के युद्ध में विजय प्राप्त कर सका था। उनकी यह भविष्यवाणी सच्ची भी निकली। वे हम सबको परास्त कर विजयी हुए और मैट्रिक परीक्षा में प्रथम आए।

सामुद्रिक मानव आकृति विज्ञान में कहां तक वैज्ञानिक सत्यता है यह कहना कठिन है। परन्तु **'यत्राकृतिः तत्र गुणा वसन्ति'** वाली बात में लोगों का विश्वास रहा है। कालिदास ने यह कह कर **'यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूप-मित्यव्यभिचारी तद्वचः**—इसके महत्व को स्वीकार किया है। मित्रवर श्री रामरसीलाप्रसाद की बात क्यों याद रह गई या यह कहिए कि याद आ गई, इसके कारण बहुत से हो सकते हैं।

पर अब मैं अवान्तर प्रसंगों में न इधर-उधर भटकूंगा और न पाठकों को भटकाऊंगा। सीधे उसी प्रसंग पर आ जाऊंगा, जिस अवसर पर ऐसा लगा कि मैं सारे आनुषांगिक प्रतिबन्धों से मुक्त, अपने पैरों पर खड़ा होने का संकल्प करने वाला, दुनिया की चुनौतियों को स्वीकार करने वाला नवयुवक हूं। मुझे ही नहीं, पिताजी को भी, परिवार वालों को भी तथा अन्य स्वजनों और परि-जनों को भी ऐसा लगा कि अब यह लड़का हाथ से गया, हमारे प्रभाव-वृत्त से स्वतन्त्र हो गया। अब इस पर हम लोगों का रंग चढ़ने वाला नहीं। गांधी ने हमारा घर उजाड़ दिया। १९३० के सितम्बर या अक्टूबर का महीना था कि गांधी जी ने भद्र अवज्ञा आन्दोलन का शंख नाद फूंका। मैं इतिहास के एम० ए० की परीक्षा छोड़कर चला आया। अब इस बात का विश्लेषण करना कि परीक्षा को छोड़ने का क्या कारण था बड़ा कठिन है और नाजुक भी। क्या मैं परीक्षा से डर रहा था? सम्भव है यह भी हो। उस बात को मैं आज अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए नहीं कर सकता कि आज भी तो मैं ऐसा

करता हूं। अपनी दुर्बलता को किसी सिद्धान्त की आड़ में छिपा लेने में मुझे कोई विशेष हिचक नहीं होती। कोई काम करना मैंने ठान लिया है पर सम्भव है, समाज की स्वीकृत मान्यताओं के अनुसार वह गर्हित हो। बस उसके औचित्य को प्रमाणित करने के लिए मैं कोई न कोई उचित कारण ढूंढ़ लूंगा। आज तो मनोविज्ञान की कृपा से इस तरह के Rationalisation के उदाहरण पद-पद पर प्राप्त हो सकते हैं। अतः, सम्भव है मेरे अन्दर परीक्षा का भय हो, मैं ऐसा सोचता होऊं कि परीक्षा की तैयारी ठीक नहीं है। जिन्दाबाद गांधी और उनका भद्र अवज्ञा आन्दोलन जिसने इस संकट के अवसर पर सहायता की।

मैं इस समय एक निर्मम न्यायाधीश की हैसियत से बोल रहा हूं। आज का एक प्रोफेसर एक नवयुवक के कृत्यों पर विचार कर रहा है और निर्णय दे रहा है। अर्थात् इसकी हिस्ट्री अर्थात् इतिहास लिख रहा है। उसकी व्याख्या कर रहा है। उसमें कारण-कार्य की शृंखला ढूंढ़ रहा है। वह स्वयं इतिहास का विद्यार्थी था। इतिहास का प्रोफेसर भी था। उसने इतालवी दार्शनिक तथा विचारक क्रोचे की पुस्तक Theory and History of Historiography को पढ़ा भी है जिसकी मुख्य ध्वनि यह है कि All History is Contemporary History अर्थात् इतिहास मात्र ही वर्तमानकालिक होता है। अतः, न्यायाधीश भले ही वह अपने ही नवयुवक पर निर्णय दे रहा है पर वह जानता है, वह लाख प्रयत्न करे पर अनिच्छन्नपि अतीत पर वर्तमान रूपारोपण क्रिया से मुक्त नहीं हो सकता। अतः, न्यायालय में आकर यदि यह नवयुवक अपने case को Plead करने लगेगा और कहेगा कि उसके घर के सामने ही जहां पटना विश्वविद्यालय की सड़क है वहीं पर सत्याग्रह होता था, उसके सामने ही नवयुवकों की टोली निकलती थी, घोड़ों की टापों से वह अपने साथियों को कुचले जाते हुए देखता था, अपने प्यारे साथियों—बेनीपुरी, जगदीश इत्यादि को अंग्रेज सार्जेन्ट के बेंतों से मार खाते हुए देखता था, तो उसके हृदय में कौन-सी उथल-पुथल मचती थी, कौन-सी वेदना होती थी यह कल्पना कठिन नहीं। आखिर वह नवयुवक कोई भगोड़ा तो था नहीं। यह देखा ही जा चुका है कि आरम्भ से ही उसमें कुछ राष्ट्रीयता के तत्त्व वर्तमान थे जो समय पाकर विकसित भी हो रहे थे। अतः अनुकूल परिस्थितियां पाकर उसके हृदय में वह पौधा लहलहा उठ तो उसके मार्ग में परीक्षा बाधक क्यों हो। अतः, ऐसी अवस्था में कोई भी न्यायाधीश चाहे वह कितना ही निर्मम क्यों न हो, उसे अपराधी को benefit of doubt देना ही पड़ेगा।

अतः, मैंने लात मारी परीक्षा पर और आरा में कांग्रेस शिविर में आकर जम गया। प्रथम पत्नी का देहान्त ही हो गया था। दूसरी शादी हुई नहीं थी

और न करने की इच्छा ही थी। ऐसा लगा कि देश सेवा में ही अपना जीवन अर्पित करने के लिए भगवान ने सारी परिस्थितियों की अनुकूलता उपस्थित कर दी है। इस बार कांग्रेस शिविर में आ जाना भी अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा। विशेषतः जवान होने के दृष्टिकोण से। जवानी का अर्थ है स्वाधीनता। स्वतन्त्रता ही यौवन का मूलमन्त्र है। जब तक मनुष्य परममुखापेक्षी है, अपनी नियति का पथ अपने पैरों से चलने की क्षमता नहीं रखता, तब तक उसे युवक नहीं कहा जा सकता है। एततूपूर्व जब कभी मैं पटने से चलता था तो आरा में अपने आत्मीय संबंधी के यहां ठहरता था। अथवा सीधे अपने घर की राह लेता था। पर इस बार न तो सीधे अपने गांव वभनगंवा ही गया और न अपने सम्बन्धी के डेरे पर ही ठहरा। अर्थात् मैंने किसी तरह की परतन्त्रता स्वीकार नहीं की। अपनी इच्छा के अनुसार स्वच्छन्दतापूर्वक अपने साथियों के साथ जा मिला। ये साथी मेरे पिताजी के दिए हुए नहीं थे। पिता और माता के द्वारा दिए गए साथियों को सम्बन्धी कहते हैं। ऐसे साथियों की क्या कमी थी ? उनकी संख्या बहुत बड़ी थी। पर मैं उनसे जाकर नहीं मिला। जाकर मिला तो उन साथियों से जिनसे भावात्मक एकता के सिवा और कोई आबद्धक सूत्र नहीं था।

मैं यहां पर एक गलत बात कह गया। गलती यह हुई कि मैंने कह दिया कि मैंने स्वच्छन्दतापूर्वक अपने साथियों का चुनाव किया और उनसे जा मिला। वास्तव में देखा जाय तो वह भी स्वच्छन्दतापूर्वक पूर्ण निर्वाचन नहीं था। स्वच्छन्द होना तो मनुष्य की भाग्य-लिपि में ही नहीं है। उस पर ज्ञात या अज्ञात रूप से इतने प्रभाव काम करते रहते हैं कि उनका पूरा लेखा-जोखा लेना असम्भव है। मनुष्य विचित्र प्राणी है। वह है तो स्वतन्त्र पर परतन्त्र होने के लिए विवश है। है तो स्वामी पर दासत्व के लिए अभिशप्त है। पोप की उक्ति यहाँ पर कितनी उचित मालूम पड़ती है :

Created half to rise, and half to fall
Great Lord of all things, yet Prey to all
Sole Judge of Truth, in endless Error hurled
The Glory, Jest and Riddle of the World.
In doubt his Mind or Body to prefer ;
Born but to die and reasoning but to err
Alike in ignorance, his Reason such
Whether he thinks too little or too much.

अतः यहां पर भी मैं अपने साथियों के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं था ठीक उसी तरह जैसे पहले पिताजी के बताए हुए सम्बन्धी—साथियों के बताए हुए क्षेत्र

तक ही अपनी व्याप्ति को सीमित करना पड़ता था। यहां पर भी सीमा थी। पर अन्तर इतना ही था कि यह सीमा एक बड़े बाप गांधी के द्वारा निश्चित की गई थी—गांधी अर्थात् युगचेतना अर्थात् भगवान्। युगचेतना और भगवान् के इस समीकरण पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं क्योंकि युगचेतना भी वैसा ही अमूर्त्त भाव है जैसा भगवान्। अतः दोनों को साथ मिलाकर देखने में कोई असंगति नहीं। आज भगवान् कहा जाता है, अपदस्थ है। पर यह कहने भर को ही है। भगवान् हटता-सा दीख रहा है पर आर्थिक नियम (economic laws), ऐतिहासिक अनिवार्यता (Histortcal necessity), सामूहिक अचेतन (collective unconscious) इत्यादि आते से दीख रहे हैं। वास्तव में ये भी भगवान् के दरबार से उसी से पूछकर ही आ रहे हैं और उसी की अमूर्त्त विभूति, दिव्यता, तेजोंश-सम्भव हैं और उसी का विजयोच्चार कर रहे हैं। और अब तो सबसे ताजी खबर यह है कि भगवान् के सबसे कट्टर शत्रु विज्ञान ने भगवान् से सन्धि कर ली है और उसको अपने यहां आने के लिए सादर निमन्त्रण भेजने की तैयारी कर रहा है।

पिताजी के माध्यम में भगवान् नहीं बोल रहा था सो बात नहीं। नहीं, वहां भी भगवान् ही बोल रहा था। अन्तर इतना ही था कि वहां वह अभिधेयार्थ से बोल रहा था। सीधे बोल रहा था। वैदग्ध्यभंगीभणिति में नहीं, लोक प्रस्थान व्यतिरेक की भाषा में नहीं, वक्रोक्ति में नहीं जो काव्य का जीवित होता है। वहां वाच्यार्थ की प्रधानता थी, व्यंग्यार्थ की नहीं। ज्यादा-से-ज्यादा वहां गुणीभूत का ही अवसर था। पर वहां पर गांधी के माध्यम से जो सुनाई पड़ता था वह तो सीधे ही आंखों में उतरकर तस्वीर बन जाता था और कलेजे में चुभकर तीर बन जाता था। वहां भी गांधी ही अकेले थोड़े थे, कृपलानी थे, राजेन्द्र बाबू थे, जवाहरलाल नेहरू थे, मालवीय जी तथा लाला लाजपतराय भी। घर के समीप आइए तो गुप्तेश्वर पाण्डेय, हरगोविन्द मिश्र, हरिनन्दनसिंह, पं० पारसनाथ त्रिपाठी थे। सरदार हरिहरसिंह की चर्चा कर ही आया हूं जिनके गीत नस-नस में प्राण फूंक देते थे।

अतः मैं चला आया कांग्रेस शिविर में। सिर पर कफन लपेट लिया और कातिल को ढूंढने लगा। देश में बड़ी हलचल थी। भारत में आरम्भ से ही एक ऐसा दल था जो बम और पिस्तौल के द्वारा विदेशी शासकों को आतंकित कर देश को परतन्त्रता के पाश से मुक्त करना चाहता था। पर वे कसमस कर रहे थे और आए दिन बमबाजी की छुटपुट घटनाएं हो जाती थीं। गांधी जी का असर तत्कालीन राजनीति पर क्या था? इसका उदाहरण लीजिए और तब इस पर विचार कीजिए कि मेरे जैसे बुजदिल व्यक्तियों में भी सत्याग्रह-संग्राम में कूद पड़ने की ताकत कहां से आ गई। पटना में झण्डा सत्याग्रह चल

रहा था। प्रतिदिन स्वयंसेवकों की एक टोली झण्डे को लेकर निकलती थी। साथ में जनता की भीड़ चलती ही थी। पुलिस वाले ठीक—इस्लामिया स्कूल से आगे स्वयं-सेवकों को रोकते थे। वहां पर एक विचित्र संग्राम होता था। स्वयं-सेवक और उनके साथ जनता भी, राष्ट्रध्वज को लेकर आगे बढ़ने की चेष्टा करते थे और एक अंग्रेज सार्जेन्ट—शायद उसका नाम चरचर था—के नेतृत्व में पुलिस उस जन-प्रवाह को रोकने की चेष्टा करती थी। गांधी जी का स्पष्ट आदेश था कि किसी भी अवस्था में चाहे परिस्थितियां कितनी भी उत्तेजनापूर्ण हों, सत्याग्रही को हिंसा का आश्रय नहीं लेना होगा। क्रान्तिकारियों से भी उन्होंने यह प्रार्थना की थी कि कम-से-कम इस बार हमें अहिंसा का प्रयोग इस स्वतन्त्रता युद्ध के लिए करने का अवसर दीजिए। इसलिए सत्याग्रही हर हालत में अहिंसक बने रहने के लिए प्रतिश्रुत थे। लोगों के सामने चौरी-चौरा कांड सदा नाचता रहता था, जबकि गांधी जी ने जनता की ओर से होनेवाली थोड़ी-सी हिंसा के कारण ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचने वाले सत्याग्रह-संग्राम को एक-ब-एक रोक लिया था। कुछ लोगों का मत था और अब भी है कि यह गांधी जी की एक भयंकर भूल थी। उन्होंने परिस्थिति को ठीक तरह से समझ नहीं सकने के कारण शीघ्र ही हाथ में आने वाली विजय को खो दिया था और सारी लुटिया डुबो दी थी। यह मत समझिए कि इस तरह की विचारधारा तभी थी, आज नहीं है। नहीं, हर एक तथ्य के दो पहलू होते हैं—कोई एक पर जोर देता है तो कोई दूसरे पर। दोनों में कौन-सा पहलू ठीक है कहा नहीं जा सकता। इसका निर्णय काल-पुरुष के हाथ में ही छोड़ देना चाहिए। अभी भारत, पाकिस्तान के साथ एक भयानक युद्ध से होकर गुजरा है। इस वक्त युद्ध-विराम सन्धि है, ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो इस युद्ध-विराम को राजनैतिक दृष्टि से भयानक भूल मानते हैं। उनका कहना है कि भारत की बहुत बड़ी भूल थी कि उसने आगे बढ़कर लाहौर को अपने अधिकार में नहीं कर लिया। यदि उसने इस अवसर से लाभ उठाया होता तो पाकिस्तान की समस्या सदा के लिए समाप्त हो गई होती। कहा नहीं जा सकता कि इस तर्क में कितना बल है। कहने का मतलब यह कि गांधी जी ने चौरीचौरा हत्याकाण्ड के अवसर पर जो एक विचित्र बात की थी उससे सब लोग डरे हुए थे और जानते थे कि यदि उनकी शर्तों का ठीक से पालन नहीं हुआ तो गांधी जी के इतिहास की पुनरावृत्ति भी हो सकती है। यह भाव भी सत्याग्रहियों के मन में था कि जब क्रान्तिकारी दल गांधी जी को अपनी अहिंसा के शस्त्र को प्रयोग करने का लिए अवसर दे रहा है तो काँग्रेस के स्वयं-सेवकों को तो गांधी जी की शर्तों के पालन करने में किसी तरह की त्रुटि करनी ही नहीं चाहिए। भारतीय लोक-हृदय पर गांधी जी का बहुत बड़ा

प्रभाव था।

ऐसे ही एक दिन पुलिस ने सत्याग्राहियों के जत्थों को रोका तो उस दिन सब सत्याग्रही स्वयं-सेवक अपने झण्डे को लेकर सड़क पर सो गए। पुलिस झण्डे को सत्याग्रहियों के हाथ से छीन लेने का प्रयत्न करने लगी। अंग्रेज सारजेन्ट ने अपनी बेंत से सत्याग्रहियों को पीटना शुरू किया। उस समय का दृश्य मेरी आंखों के सामने स्पष्ट नाच रहा है, जब कि हमने देखा कि भाई रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी खड़े होकर चारों तरफ घूमते हुए जोरों से चिल्लाकर कह रहे हैं—**"शांत रहो भाइयो ! अहिंसा को मत छोड़ो। गांधी जी की सौगन्ध है।"** सचमुच वातावरण बहुत उत्तेजित हो गया था। ऐसा लगा कि आज तो यहां कोई अघट घटना घट जानेवाली है। इतने में हमने देखा, हाय रे ! प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री योगेन्द्र शुक्ल वहीं पर अपने छद्मवेश में उपस्थित हैं। रह-रहकर उत्तेजित हो रहे हैं। दांत किटकिटा रहे हैं और उनकी एक अंगुली पिस्तौल की ट्रीगर पर है। ऐसा लगता था कि एक क्षण के अन्दर अंग्रेज सारजेन्ट का सिर कपोत कर्बुर की तरह भूमि पर लोट जाने वाला है। उस समय तो वातावरण ने इतना तल्लीन कर लिया था कि दूसरी किसी वस्तु की याद कहां से आती भला, परन्तु आज जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं तो कालिदास के उस श्लोक की स्मृति एक बार जागृत हो जाती है :

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावद् हि वह्निर्भवनेत्रजन्मा,
भस्मावशेषं मदनं चकार॥

परन्तु उस समय अंग्रेज सारजेन्ट का शरीर और उसके साथ अनेक व्यक्तियों के शरीर भस्मावशेष नहीं हुए। इसका सारा श्रेय बेनीपुरी को है। उन्होंने बहुत ही चतुरता के साथ धैर्यपूर्वक अपनी व्यंग्योक्तियों के द्वारा श्री योगेन्द्र शुक्ल को शांत किया। वास्तव में **"भाइयो, शांत रहो, अहिंसा को न छोड़ो। गांधी जी की सौगन्ध है।"** इन वाक्यों का वाच्यार्थ तो जनता के लिए था, परन्तु इनका व्यंग्यार्थ निवेदन श्री योगेन्द्र शुक्ल के प्रति था और यह निश्चित है कि इस व्यंग्यार्थ ने अपना प्रभाव दिखलाया और एक बहुत बड़ा अनर्थ होते-होते बचा। आज जब मैं अपनी कक्षाओं में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का पाठ पढ़ाने लगता हूं तो मुझे बतलाना पड़ता है कि अभिधा और लक्षणा के रहते हुए—व्यंजना नामक एक अन्य शब्द शक्ति मानने की क्या आवश्यकता है। इसके लिए हमारे साहित्य-शास्त्री व्यंजना के पक्ष में एक श्लोक उद्धृत करते हैं :

बोद्धृस्वरूप संख्या, निमित्त-कार्य-प्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदादभिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्गयः॥ (सा० द०)

इस श्लोक के पूरे अर्थ से हमें कोई मतलब नहीं, क्योंकि हम यहां पर साहित्य-शास्त्र की बातें नहीं कर रहे हैं। मेरा मतलब यही है कि अनेक तर्कों के साथ व्यंजना के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय भिन्न है। वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत होता है और व्यंग्यार्थ दूसरे व्यक्ति के लिए। इसके उदाहरण के लिए एक श्लोक उद्धृत किया जाता है :

कस्य न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्मघ्राणनिवारितबामे सहस्वेदानीम्॥

एक नायिका थी। उसके प्रेमी ने चुम्बन लेते समय उसके ओंठों को काट लिया, ओठ क्षतविक्षत हो गए। इस बात की आशंका थी कि इसे देखकर उस नायिका का पति बहुत क्रुद्ध होगा और उसकी भर्त्सना करेगा। ऐसी अवांछनीय परि-स्थिति उत्पन्न न होने पाए और इस नायिका की प्रतिष्ठा की रक्षा किस तरह हो, इसके लिए नायिका की सखी ने एक उपाय सोचा। वह नायिका के साथ ही उसके पति से मिलने गई। ज्योंही उसने पति की दृष्टि को वक्र होते हुए देखा कि वह नायिका को डांटकर कहने लगी कि **'अपनी पत्नी के क्षत अधरों को देखकर किसको क्रोध नहीं होगा। (यदि तुम्हारा पति तुम्हारे सव्रण अधर को देखकर क्रुध होता है तो ठीक ही है) सभ्रमर-पद्म को सूंघने वाली मूर्खा स्त्री, मैं मना कर रही थी कि उस कमल को मत सूंघो पर तुमने माना नहीं। अब लो मरो। सब कुछ सहो।''** मतलब यह है कि उस श्लोक का वाच्यार्थ तो नायिका को लक्ष्य करके कहा गया है, परन्तु इसका व्यंग्यार्थ का निवेदन नायिका के पति के प्रति है कि यह मेरी सखी सर्वथा निर्दोष है। इसने सभ्रमर पद्म को सूंघ लिया था, इसलिए इसके अधर क्षत हो गए हैं। अतः यह क्षम्य है—अन्यथा न लें। मुझे पता नहीं कि ऐसी कोई वास्तविक घटना नहीं हुई थी या कवि की कल्पना ही कल्पना है। मेरी तो कल्पना है कि अवश्य इसके पीछे कोई इतिहास है और किसी वास्तविक घटना के आधार पर ही कवि ने इस श्लोक की रचना की होगी। आज मैं यह सोचता हूं कि जब मुझे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद बतलाना हो और विषय की भिन्नता के आधार पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का पृथक् अस्तित्व प्रमाणित करना हो तो इसके लिए संस्कृत साहित्य में दिए गए इस घिसेपिटे श्लोक का उदाहरण क्यों दिया जाय ? क्यों न देश के महान् ऐतिहासिक संग्राम के उपलक्ष्य में घटी हुई इस वास्तविक घटना का उदाहरण दिया जाय। बेनीपुरी आपाततः सत्याग्रहियों को लक्ष्य करके कह रहे हैं, **"भाइयो शांत रहो, अहिंसा को न छोड़ो, गांधी जी की सौगन्ध है।"** परन्तु इसका व्यंग्यार्थ सत्याग्रहियों के लिए नहीं था, वह श्री योगेन्द्र शुक्ल के लिए ही था। साहित्य का इतिहास इस बात पर मौन है कि सखी की उक्ति

का क्या प्रभाव पड़ा। पति महोदय के क्रोध की शांति हुई या नहीं। परन्तु इस घटना के व्यंग्यार्थ का प्रभाव ठीक अपने लक्ष्य पर चोट कर सका है। योगेन्द्र शुक्ल की अंगुली पिस्तौल की ट्रीगर पर चली तो गई, परन्तु उसने घोड़े को दबाया नहीं। यह बेनीपुरी की वाणी के व्यंग्य का चमत्कार था। मैं आज इस कल्पना का आनन्द ले रहा हूं कि त्रेता या द्वापर में कामदेव को भस्म होने से जो बचाया न जा सका उसका कारण यह भी हो सकता है कि देवतागण व्यंग्यार्थ की शक्ति को भूल गए। उन्होंने सीधे वाच्यार्थ से काम लेना चाहा। **"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति।"** यह तो **स्व शब्द वाच्यत्व दोष** आ गया। तब भला रस की सृष्टि मतलब अभीष्ट की सिद्धि, कामदेव की रक्षा कैसे होती। इस दृष्टि से हम दुनिया वाले प्रेमी देवताओं से अधिक चतुर होते हैं।

अतः इन्हीं बातों से पता चल जाता है कि गांधी जी ने तत्कालीन भारतीय लोक-हृदय को कहां तक प्रभावित किया था। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि मेरे पिता जी के द्वारा दिये गए सम्बन्धियों के प्रभाव में वाच्यार्थ था, पर इधर जो गांधी जी के द्वारा दिए गए नए सम्बन्धी थे और उस समय गृह के प्रांगण में न रहकर शिविर में रहते थे, वे अधिक प्यारे थे। उनमें वाच्यार्थ नहीं, व्यंग्यार्थ था। उसी समय मेरे जीवन की वह ऐतिहासिक घटना घटी जिसने मुझे पूर्ण रूप से जवान बना दिया। अब मैं अन्दर से शक्ति-सम्पन्न हो चला। अब तक मुझे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं था। वास्तव में पूछिए तो भरोसा तो अभी भी नहीं हुआ है, पर उस समय ऐसा लगता था कि यदि अवसर आया तो मैं दुनिया की सारी ताकतों को ललकार सकता हूं। हमारा चैतन्य एक विकल वेदना के सहारे सारे सुखों को ललकार सकता है। मैं अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने तथा अपनी शक्ति को अनुभव करने का अवसर ढूंढ़ ही रहा था, तब तक आ गया जवाहर दिवस। जवाहरलाल नेहरू जेल में थे। उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू बाहर थे। और वे ही उस समय कांग्रेस के स्वातन्त्र्य-युद्ध के डिक्टेटर थे। उनका फर्मान निकला कि सारे देश में जवाहर-दिवस मनाया जाय और कांग्रेस की स्वतन्त्रता प्राप्ति वाले ध्येय को दोहराया जाय। चाहे सरकार की ओर से इस पर प्रतिबन्ध ही क्यों न हो?

हमारे सब साथी जेल में थे। सर्वश्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', रामायणप्रसाद, विन्ध्याचलप्रसाद, सिद्धेश्वरी बाबू इत्यादि सभी साथी अपनी सजा की अवधि काट रहे थे। बच गए थे केवल प० गुप्तेश्वर पाण्डेय। ये बड़े सौम्य थे। बोलते कम थे, ठोस कार्य बहुत करते थे। बस समझ लीजिए a man of few words की साकार प्रतिमा। अन्य साथियों की तरह लेक्चर झाड़ने और सरकार को गालियां देने की सनक इसमें नहीं थी। उस समय जिलाधीश भी एक

बंगाली सज्जन थे। कहा जाता था कि उनमें भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति के भाव थे। इसलिए धर-पकड़ तथा मारपीट का वाजार उतना गर्म नहीं था। मैं जेल से बाहर इसलिए था कि अभी हाल में ही मैंने आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ किया था। इसलिए मेरे विरुद्ध सरकार के पास कोई विशेष प्रमाण नहीं था। सच पूछिए तो हम लोग मन-ही-मन खिन्न थे कि हम क्यों जेल के बाहर हैं, जब कि हमारे सब साथी जेल के भीतर रहकर देश-सेवा का पुण्य अर्जित कर रहे हैं। जल्द से जल्द जेल के भीतर जाकर इस पुण्य की लूट में सहभागी होना चाहिए। इसी मानसिक स्थिति में जवाहर-दिवस समारोह आ गया। ऐसा लगा कि हम लोगों का मुंह मांगा वरदान मिल गया।

ऊपर मैं वाजारशाह के गोले की चर्चा कर आया हूं। कह आया हूं कि यह स्थान हमारे स्कूल से ठीक सटा हुआ था और यहीं पर सभाएं हुआ करती थीं। सरकार कटिबद्ध थी कि जवाहर-दिवस मनाना गैर कानूनी होगा और हम लोग इधर इस बात पर कमर कसे हुए थे कि जवाहर-दिवस मनाया जायगा। चाहे कानून को ही क्यों न तोड़ना पड़े। कानून तोड़ना तो हम लोगों का धर्म ही हो गया था। अतः सभा हुई। पंडित गुप्तेश्वर पाण्डेय ने वक्तव्य पढ़ने से पहले बहुत ही ओजस्वी भाषण दिया। वैसे वे कोई ओजस्वी वक्ता न थे, परन्तु उस दिन उनकी वाणी में एक अपूर्व दीप्ति आ गई थी। उसी समय उन्होंने एक शेर कहा था जो मुझे बहुत प्रिय है और आज भी इसका प्रयोग हर अवसर पर करता हूं :

हम आह भी लेते हैं तो हो जाते हैं बदनाम।
वे कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होती॥

खैर स्पीच के समय पुलिस अपने जवानों के साथ खड़ी थी। जब तक स्पीच होती रही तब तक पुलिस ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। पर जब पाण्डेय जी वक्तव्य पढ़ने लगे तब पुलिस के सब इन्सपेक्टर महोदय दो-चार पुलिस के जवानों के साथ उनके समीप आ गए और हाथ से कागज को छीन लिया और एरेस्ट कर लिया। जनता में भगदड़ मच गई। मैं वहीं पर बैठा था। मुझसे देखा न गया। मैंने तुरन्त इसी कागज को लेकर पढ़ना आरम्भ किया और जनता के सामने गरज कर कहने लगा कि जिस अपराध के लिए पाण्डेय जी पकड़े गए हैं, वही अपराध मैं भी करने के लिए खड़ा हूं। मेरी बातों का प्रभाव यह हुआ कि जनता पुनः लौट आई। मुझे याद नहीं कि मैंने स्पीच में क्या-क्या बातें कहीं ? अवश्य कोई भावपूर्ण बात कही होगी। आज भी मुझमें भावुकता के प्रवाह में आकर मार्मिक बातें कहने की आदत है, परन्तु इतना स्पष्ट याद है है कि मैंने ये पंक्तियां कही थीं :

सौ बार कसम है तुझे उस जेर ओ जबर की
सताना तुझे जितना हो जी भर के सता ले
बदले की लहर सर पर चढ़कर कहेगी
था जहर मगर केंचुल से थे मतवाले काले ।।

शायद यह किसी क्रांतिकारी की पंक्तियां हैं, रामप्रसाद विस्मिल की। इन पंक्तियों का असर जनता पर यह हुआ कि जनता यहां पर जमकर खड़ी हो गई। एक दम सन्नद्ध तैयार मानो तीर छुटने के लिए प्रत्यंचा पर चढ़ा हुआ हो। कदाचित् इसी का प्रभाव था कि पुलिस ने उस समय मुझे एरेस्ट करने का साहस नहीं किया। सच पूछिए तो मुझे इस बात का अफसोस ही रहा कि मैं उस दिन एरेस्ट नहीं हो सका क्योंकि जेल जाने की मेरी बड़ी हार्दिक इच्छा थी। परन्तु एक बात तो निश्चित है कि मैं उस दिन से आरा नगर की जनता का हीरो बन गया। लोगों की दृष्टि में मेरी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और लोग मुझे बहुत आदर और सत्कार के भावों से देखने लगे। मेरे अन्दर एक अपूर्व साहस और आत्मविश्वास का संचार हुआ। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मैं इसी दिन पूर्ण रूप से नवयुवक बन गया। यदि आज इतिहास के विद्यार्थी इस बात की खोज करें कि १९३० की किस तीथि को जवाहर-दिवस मनाया गया था तो वही तिथि मेरी यौवन-प्राप्ति की तीथि होगी। मेरे जीवन को निर्मित करने वाली कितनी शक्तियां अन्दर ही अन्दर कार्य कर रही थीं और जिनका उल्लेख मैंने विगत पृष्ठों में किया है। उनकी चरम परिणति इसी तिथि को हुई और उसने मुझ जैसे दुर्बल व्यक्ति को अपूर्व बल से समन्वित कर दिया। मेरा जन्म सन् १९०८ में हुआ था और यह १९३० या ३१ का साल था। २३-२४ वर्ष की अवस्था भी युवकाल की अवस्था है। अतः शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त कर चुका था।

जवानी की राह पर

अब मैं जवान हो रहा हूं, युवावस्था में पदार्पण कर रहा हूं। परिवार से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया यह तो नहीं कह सकता पर स्वतंत्र होकर भी रह सकता हूं ऐसा विश्वास हो गया। पहले भी स्वतंत्र हो जाने की कल्पना जगती अवश्य थी पर परिवार से टूट कर कहां जाऊंगा, क्या करूंगा, जीवन-यापन के क्या साधन होंगे, ये भावनायें जग-जगकर उत्साह को ठंडा कर देती हैं। पर अब मैं अन्दर से दृढ़ हो चला और कुछ शक्ति का अनुभव करने लगा। इस स्वातंत्र्य भाव-प्रदर्शन का परिणाम भी मैं स्पष्ट देखने लगा। सबसे बड़ी बात तो यह कि पिता जी परास्त हो गये। अब तक उनकी मुद्रा निषेधात्मक रहती थी। मेरे प्रति उनके हृदय में वात्सल्य के भाव पूर्णरूप से वर्तमान तो थे ही, इसमें कहना ही क्या है। मां की मृत्यु के बाद उन्होंने मां के कर्तव्य को भी स्वयं ही पूरा किया। मानो मां मर तो गई, उसकी भौतिक काया अवश्य नष्ट हो गई पर उसकी आत्मा ने पिता के व्यक्तित्व में प्रविष्ट हो उसमें अपूर्व कोमलता का संचार कर दिया। पिता जी पहले केवल पिता थे। उत्तेज, दबंग, उग्र, बात-बात पर डांटने वाले, हाथ में छड़ी लिये रहने वाले। उनकी छड़ी की चोटों की दवा मां के स्नेहांचल में मिलती थी। वह मां पिता के व्यक्तित्व में मिलकर तदाकार हो गई। पर फिर भी पिता जी ने मां के लिये अपना सिंहासन सर्वथा छोड़ दिया हो यह बात नहीं थी। वे सदा मेरे हितचिंतन में लगे रहते थे, मैं उनके भावात्मक जगत से एक क्षण के लिये भी अलग होऊं, ऐसी बात मैंने कभी नहीं पाई। पढ़ने में किसी तरह की हलचल की बात हुई कि पिता जी आ उपस्थित हुए। वास्तव में मैं उनके इस चिंता-भार से तंग था। पर वे तो अपने स्वप्नों के अनुरूप मेरा निर्माण करना चाहते थे। वे आज भी, भगवान् की दया से जीवित हैं और अपने आशीर्वाद के रक्षा-कवच से हमारी रक्षा कर रहे हैं। पता नहीं कि मुझे और मेरे जीवन को देखकर उनके मन में कैसे भाव होते होंगे। पर आज जब मैं अपने ऊपर विचार करता हूं तो ऐसा ही लगता है कि मुझसे शायद कोई भी प्रसन्न नहीं रहता होगा।

मैं कांग्रेस का कार्यकर्त्ता बन गया और सरकारी भद्र अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने लगा, इसका अर्थ यह कि मेरे उज्ज्वल भविष्य की सारी सम्भावनाएं नष्ट हो गईं। उन दिनों भी नौकरी मिलनी कठिन हो गई थी, संघर्ष बढ़ गया था और मैं कभी होनहार विद्यार्थी नहीं रहा। किसी भी परीक्षा में प्रथम श्रेणी

में नहीं आया । पर चूंकि एम. ए. पास था । अतः मेरे परिवार वालों तथा गांव के व्यक्तियों को मुझसे बड़ी-बड़ी आशायें थीं । मेरे मामा पं० देवदत्त त्रिपाठी पटना कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे, मेरे दादा जी पं० शिवनन्द उपाध्याय अवकाश प्राप्त इन्सपेक्टर आफ पुलिस थे । सरकार में उनकी प्रतिष्ठा भी अच्छी थी । अतः मेरे भविष्य की उज्ज्वलता में किसी को शंका नहीं थी । पर मेरी जवानी में प्रवेश करने के साथ ही मेरे भविष्य का अन्धकार सारे भूमंडल में, कम से कम मेरे परिवार और गांव में तो अवश्य ही फूट पड़ा । परिणाम यह हुआ कि मैं सब लोगों के चित्त से उतर गया । पहले सब लोगों के चित्त पर चढ़ा रहता था, गांव में या जवार में जहां भी जाता लोगों से आदर या प्रशंसा के दो बोल अवश्य प्राप्त करता था । पर अब लोगों के व्यवहार में एक तरह से उदासीनता आ गई ।

सम्भव है, लोगों की उदासीनता की जो बात कह रहा हूं उसमें मेरी कल्पना ही अधिक हो जैसा कि जीवन के प्रत्येक व्यापार में होता है । जीवन जो स्वरूप धारण करता है वह तो नैसर्गिक शक्तियों का परिणाम है और ये शक्तियां तटस्थ, निरपेक्ष तथा स्वरूप होती हैं । इनमें अच्छे, बुरे, उचित, अनुचित का प्रश्न ही नहीं रहता, यह तो हम हैं जो इन्हें अपने आन्तरिक रंग में रंग कर किसी संज्ञा या विशेषण से सम्बद्ध कर लेते हैं । यह भी सही हो सकता है कि मेरे चारों तरफ रहने वाली दुनिया ज्यों की त्यों हो । वह अपनी स्वाभाविक गति से ही प्रगति करती जा रही हो । उसे मेरे बनने या बिगड़ने की परवाह न हो ! परवाह यदि हो तो मुझे । मैं अपने विद्रोह के सारे प्रदर्शनों के बावजूद कहीं न कहीं अन्दर से कतरा रहा होऊं ? समझता होऊं कि अपने भविष्य को चौपट कर रहा हूं और उसी का प्रतिबिम्ब लोगों के व्यवहार में देख लेता होऊं । **"शशिमुख बस दरपण ह्वै रहा"** । पर यह तो आज मैं अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं क्योंकि बहुत-सी ऐसी घटनायें देखी हैं, प्रतिदिन देखता हूं, जिनका रूप-निर्माण मैं ही करता हूं, मेरी कल्पना करती है । पर उस समय यह ज्ञान नहीं था । वास्तव में सही बात तो यह है कि जिस समय जीवन वर्त्तमान में अपने स्वरूप को प्रकट करता है उस समय अपने प्राणावेग की उद्दामता में मनुष्य के स्वर को भी लपेट लेता है, उसके विचारों तथा भावनाओं को भी साथ ले लेता है, वह अकेले रह ही नहीं सकता । अतः उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो नहीं सकता । यह तो जब हम उन घटनाओं से दूर हो जाते हैं, उन्हें पीछे छोड़ देते हैं, उनका भोग कर लेते हैं, कहिये जब वे बासी हो जाती हैं तब हम उन्हें अपने स्वयं से अलग कर उन पर विचार करने की परिस्थिति में होते हैं और उनकी वास्तविकता की जांच कर सकते हैं । तो भी अपने स्व से पूर्ण मुक्ति मिल ही जाती है कहना कठिन है । यदि तात्कालिक घटनाओं को स्व की उद्दाम विद्यु-

द्वारा लपेटे रहती है तो आज का व्यतीत, अतीत उन्हें निर्जीव बना देता है। उसके सारे विष को, कटुता को निकाल देता है और आप जानते ही हैं वही विष, वही कटुता तो घटनाओं के प्राण हैं। सर्प का सर्पत्व तभी तक है जब तक उसमें विष है, फण उठाकर फुंफकार सकता है, आक्रमण कर सकता है। उसका विष निकाल दीजिये कि उसका सारा सर्पत्व ही समाप्त हो जाये।

अतः मैं लोगों के हृदय में अपने प्रति उदासीनता, एक तरह के अनादर, अवहेलना की बात जो कह रहा हूं उसमें वास्तविकता थी अथवा अपने ही अन्दर की दुर्बलता 'चोर की दाढ़ी में तिनके' की कहानी कह रही थी कह नहीं सकता।

मेरे जीवन ने जो क्रान्तिकारी मोड़ लिया अर्थात् मैंने जब जवान होना प्रारम्भ किया, जिस नीड में मैं जनमा, पला और बढ़ा तथा जिन लोगों ने मुझे चुग्गा देकर पाला और पोषा उस नीड़ से तथा उन लोगों से अलग होकर जब मैं बाहर जाने के लिये पर फड़फड़ाने लगा सचमुच उन्हें बड़ी निराशा हुई। कहावत है कि सब दिन सुग्गा **'सेवर सेवले खाये के बेर भूआ मइलें'**। मतलब यह कि शाल्मलीतरु के सुन्दर तथा लाल पुष्पों को देखकर सुग्गा उनका सेवन करता है और प्रतीक्षा करता है कि जब फल पककर तैयार होगा तो छककर आनन्द लूटूंगा पर जब वह चोंच मारता है तो रूई हाथ आती है। यह बात अप्रासंगिक तो लगेगी पर बता ही दूं कि यह कहावत क्यों ले बैठा, इसकी स्मृति क्यों हो आई। आखिर मैं ये पंक्तियां क्यों लिख रहा हूं? आत्मकथा कहने के लिये? नहीं, आत्मकथा तो उन व्यक्तियों की सार्थकता रखती है या रख सकती है जिनका जीवन घटना-संकुल हो, जिनके जीवन की कहानी राष्ट्र, देश, जाति, किसी विचारान्दोलन के उत्थान और पतन से सम्बद्ध हो। तो क्या किसी श्रेष्ठ साहित्यिक कृति की रचना के लिये? नहीं वह भाव मुझमें नहीं आया कि मैं कोई ऐसी कृति साहित्य को दे सकता हूं जिसको लेकर वह गौरवान्वित हो। तब मैं ये जो पंक्तियां लिख रहा हूं वह क्या हैं? सुनिये!

मैं अपने को खोल रहा हूं, कागज पर सम्भव हो तो कलेजा निकालकर रख देना चाहता हूं। यही देखिये न। कहने चला हूं अपनी जवानी की बात कि मैंने अपनी जवानी में क्या-क्या काम किये, क्या-क्या कारनामे ढाहे। पर अभी जो बात कहूंगा वह ठीक कल की है। आज जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, दिनांक २९ मार्च, १९६६ को ठीक प्रातः ७ बज कर ७ मिनट हुए हैं और ठीक कल अर्थात् २८ मार्च ६॥ बजे संध्या समय की बात है कि मैं तमिल कक्षा से एक पाठ पढ़कर आया हूं इलव मरम् अर्थात् सेमर का वृक्ष। उसकी अन्तिम पंक्ति यह है—"आंरुवर (एक व्यक्ति) ऐदा वदु (कोई वस्तु) औन्ड्रै (एक को) पैरु-वदर्काक (प्राप्त करने के लिये) नेडुनालू (चिर काल से) कात्तिरुन्दु

(प्रतीक्षा करके) अढु किडैक्कामल् पोथ् विट्टाल् (बिना प्राप्त किये ही चला जाय) अवर (वह) इलवुकात्त किलि पोल् (सेमर की प्रतीक्षा करने वाले सुग्गे की तरह) ऐभाट्ट्मडैयून्दार (धोखा खाने वाला) एनेरू (इति) चोलव-डुण्डु, (कहा जाता है)। ठीक इसी पंक्ति के कुछ शब्दों के सहारे कहूं कि हमारे परिवार के लोगों की हालत इलवुकात्त किलि पोल ऐभाट्ट्मडैयन्दार की तरह थी।

वैसे मेरे सेमर के सुन्दर पुष्प से धोखा खाया होगा तो परिवार के सब सदस्यों पर इसका सबसे दारुण आघात हुआ दो व्यक्तियों पर। मेरे दादा जी श्री शिवनन्दन उपाध्याय पर और पिता जी पं० परीक्षित उपाध्याय पर। दादा जी मेरे सगे दादा नहीं थे। मेरे दादा जी पं० रमाकान्त उपाध्याय के सगे कनिष्ठ भ्राता थे। ये इन्स्पेक्टर आफ पुलिस थे। हाल ही में अवकाश-ग्रहण किया था। पक्के सनातनधर्मी, सदाचारी, सिद्धान्त के पक्के। स्वयंपाकी। बाजार की कोई वस्तु खाते नहीं थे। सबसे बड़ी बात यह कि कर्तव्य-निष्ठ, ईमान के पक्के। पुलिस में नौकरी करते हुए भी एक पैसा किसी से नहीं लिया। इस बात का जनमानस पर बड़ा प्रभाव था। वे बड़े आदर के साथ देखे जाते थे। परिवार के लोग तो मन ही मन उनसे जरा असंतुष्ट ही रहते थे कि वे क्यों घूस नहीं लेते। लेते होते तो आज सोने का महल खड़ा कर देते।

मेरा परिवार मुख्यतः कृषकों का परिवार था। कृषि से ही जीविका चलती थी। हां, अब उसमें विद्या का, सरस्वती का प्रवेश हो चला था। दादा जी ने मैट्रिक परीक्षा पास की थी पर आई. ए. में दो बार असफल रहे। बाद में पुलिस सेवा में प्रवेश कर धीरे-धीरे पुलिस इन्स्पेक्टर तक हो गये। कहा जाता था कि वे इतने कर्तव्यपरायण थे, इतने ईमान के पक्के थे, इतने न्याय के पक्षपाती थे कि ऊपर के अधिकारियों से भी टकराहट हो जाती थी क्योंकि उनके दबाव में भी वे न्याय के पक्ष का समर्थन छोड़ने को तैयार नहीं रहते थे। यही कारण है कि वे बहुत उन्नति अपनी नौकरी में नहीं कर सके क्योंकि वे अधिकारी वर्ग के कृपाभाजन नहीं रह सके थे। लोगों का ख्याल था कि वे डी. एस. पी. जो अपने अवकाश-ग्रहण काल तक नहीं हो सके उसका यही कारण था। भारतीय मानस बहुत कल्पनाशील होता है। किसी में जरा भी असाधारणता देखी कि उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की काल्पनिक कथायें बुन लेता है। मध्य युग के सन्तों तथा भक्तों को लेकर न जाने कितनी कथायें गढ़ ली गई हैं। उसी तरह दादा जी के बारे में भी बहुत कथायें बना ली गई थीं।

एक कथा सुनिए! इनके बड़े भाई श्री रामनन्दन उपाध्याय भी सब-इन्स्पेक्टर थे। अवकाश प्राप्त कर लिया था। यह सही है कि समय के पूर्व ही उनकी अवकाश-प्राप्ति हो गई थी। कोई न कोई कारण होगा ही। सम्भव है

कि उनमें घूस लेने की प्रवृत्ति हो, अधिकारी वर्ग का ध्यान इधर आकर्षित हुआ हो, कोई शिकायत उनके कानों तक पहुंची हो और उन्हें 'अवकाश' दे दिया गया हो। पर कहा यही जाता था कि ये दोनों भाई श्री रामनन्दन उपाध्याय और श्री शिवनन्दन उपाध्याय (जिनकी चर्चा यहां पर हो रही है) कहीं एक ही स्थान पर काम करते थे। लघु-भ्राता श्री शिवनन्दन उपाध्याय अपने बड़े भाई की घूसखोरी वाली प्रवृत्ति से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः अधिकारी वर्ग से उनकी शिकायत कर दी जिसका परिणाम यह हुआ कि श्री रामनन्दन उपाध्याय को अवकाश-ग्रहण करने के लिये बाध्य किया गया। मेरा अपना ख्याल है कि यह कोरी कल्पना है। केवल मेरे दादा जी के दृढ़ चारित्र्य, ईमानदारी, अन्यायोपार्जित धन को लोष्ठवत् समझने की प्रवृत्ति से जनता चमत्कृत थी और इसी चमत्कार भाव ने इस कहानी का रूप धारण कर लिया होगा।

मैंने अभी कहा कि कहानी का रूप धारण कर लिया होगा। कहानी की बात मेरे मन में इसलिए आ गई कि हिन्दी के तरुण कहानीकार श्री राजेन्द्र यादव की एक कहानी 'तलवार पंच हजारी' अभी हाल में पढ़ी है और उसकी स्मृति अभी ताजी है। यह मत समझिए कि यह आदर्शवादी कहानी है। आज के युग में कहां विशुद्ध आदर्शवाद? सब वस्तुएं 'एडलट्रेटेड' हैं। मेरे मित्र तो एक दिन कह रहे थे कि आज दिन तो शुद्ध जहर भी नहीं मिलता। है तो यह आधुनिक ही कहानी पर इसमें एक डाकू का बड़ा ही आदर्श उपस्थित कर दिया है। एक डाकू की बात सुनिये, **"तभी दादा साहब ने किसी औरत की चीख सुनी। दादा साहब का कायदा था कि वे औरतों के शरीर पर हाथ नहीं लगाते थे। वे उनसे सिर्फ जेबर मांगते थे। अगर वे नहीं देतीं तो उनके शरीर पर जितना भी जेबर होता, सब छोड़ जाते। सारा दल उनके इस कायदे को मानता था। चीख सुनकर अचानक उनका ध्यान गया कि छोटे दादा साहब नहीं हैं। सबको वहीं छोड़कर वे भीतर लपके तो देखा कि छोटे दादा साहब एक लड़की से हाथा पाई कर रहे हैं। उन्होंने वहीं रोका, "क्या करता है? क्या करता है? हम लोग औरत के शरीर का गहना नहीं छीनते।" लेकिन अगले क्षण ही उनकी समझ में आ गया कि छोटे दादा साहब गहने नहीं छीन रहे थे········ दादा साहब की आंखों में खून उतर आया। "हम लोग धन लेने आए हैं, दूसरों की बहू-बेटियों की इज्जत नहीं।" और उन्होंने झपट कर एक ही बार में उनका सिर कलम कर दिया।"** आप कहानी के दादा जी की और मेरे दादा जी दोनों के व्यवहार की तुलना कीजिए। जीविका को छीन लेना और सिर को कलम करना—इन दोनों में क्या अन्तर है। **"जीविका हननं मरणादतिरिच्यते।"** मुझे आश्चर्य तो इस बात पर हो रहा है ये दो दादा लोग, कहानी के दादा और मेरे दादा—एक स्थान पर कैसे आ मिले। दोनों ही एक ओर तो बड़े भयंकर, दूसरी

ओर बड़े कोमल । **बज्रादीप कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।**

यह मत समझिये कि आज से १०० वर्ष पूर्व की जनता में विद्या का प्रचार नहीं था, वह अंधविश्वासिनी होती थी, उसका बौद्धिक विकास नहीं हुआ था । अतः, इस तरह की परिकल्पनायें उसके अर्द्ध विकसित मानस-क्षेत्र में उग उग आती थीं । नहीं, यह बात नहीं । जन-मानस आज भी ज्यों का त्यों है । मेरे जीवन के उदाहरण लीजिए । क्यों कि बातें कितनी ही इधर-उधर की हों पर वे विस्तार तो पा रही हैं मेरे संदर्भ में न । मैं मनोविज्ञान का विशेषज्ञ नहीं हूं । मैंने केवल एक पुस्तक लिखी है, **"आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान ।"** बात बहुत छोटी सी है । हां, कभी-कभी कुछ लेखों में या वार्तालाप के दौरान में मनोविज्ञान की चर्चा कर लेता हूं । पर मैंने सुना कि एक दिन जयपुर रेडियो स्टेशन के एक कमरे में बैठकर कुछ बड़े-बड़े साहित्यिक यह कह रहे थे कि उपाध्याय जी इतने बड़े मनोवैज्ञानिक हैं कि किसी व्यक्ति की एक छोटी-सी हरकत के आधार पर उसके हृदय के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन कर सकते हैं । यदि आज के युग में यह बात सम्भव है तो उस समय की क्या-क्या कही जाय ? संस्कृत में एक श्लोक है :—

रे रे घट्ट मा रोदीः किं किं न भ्रामत्यसौ
कटा कटाक्षमात्रेण कराकर्षेण का कथा ।

कवि ने देखा कि कोई नायिका जांता चला रही है और घर्र-घर्र की आवाज हो रही है । उन्हें जांते की दशा पर बड़ी दया आई । उसे सांत्वना देने लगे, "देखो रोओ मत । अरे यह नारी तो ऐसी है कि केवल कटाक्ष-पात मात्र से न जाने किस-किसको चक्कर खिला देती है । यहां तो अपने करों से आकर्षण कर रही है । तब क्या कहा जाय । खुदा हाफिज ।" यदि आज जबकि हम बीसवीं शताब्दी के उत्तरांश में भी १० वर्षों आगे बढ़ आए हैं और हमारी वैज्ञानिकता चन्द्रमा और मंगल ग्रह पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न में संलग्न है और इस युग में **"मद्विधा छुद्रजन्तवः"** जो **"जायन्ते च म्रियन्ते च"** को लेकर ऐसे ताना-बाना बुन सकती है और **"अनेन सदृशो लोके, न भूतो न भविष्यति"** बना दे सकती है तो उस युग के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है । यदि उस युग के लोग यह कहें कि इन्सपेक्टर साहब अर्थात् शिवनन्दन उपाध्याय अपने दोनों हाथों में दूध भरे लोटे को लेकर भैंस को फांद जाते थे तो यह कोई बड़ी बात तो नहीं है ।

तो ऐसे ही मेरे दादा जी थे श्री शिवनन्दन उपाध्याय जिन्होंने मेरे कालेज तथा स्कूल के दिनों के अध्ययन-काल का व्यय-भार वहन किया था । उनकी कृपा से यह सम्भव हो सका । क्योंकि जैसा मैं उल्लेख कर आया हूं मेरा परिवार कृषि-जीवी था जिसके पास अन्नाभाव तो नहीं था पर द्रव्याभाव तो

था ही। और यह द्रव्य दादा जी की कृपा से ही प्रतिमास के प्रथम सप्ताह में प्राप्त हो जाता था। यों वे मेरी विद्रोह-भावना से पूरे सन्तुष्ट न थे। कई बार क्रोध में आकर दण्ड के रूप में रुपये भेजना बन्द कर देते थे। पर अन्त में उनका आंतरिक स्नेह इस दाण्डिक क्रोधावेग पर विजयी हो जाता था। और उनकी कृपा पूर्ववत् चलने लगती थी। जिन दिनों दादा जी की कृपा से मैं वंचित रहता उन दिनों पिताजी किसी न किसी तरह मेरे अध्ययन के लिए व्यय-भार संभाले रहते थे। हालांकि यह मैं स्पष्ट देखता था कि इसके लिए उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। फिर भी वे समय पर रुपयों की व्यवस्था नहीं कर पाते थे। दादा जी की मनोवृत्ति यह रहती थी कि उन्होंने अपनी कृपाओं से वंचित रखकर जो मुझे दण्डित किया है उसकी चोट मुझ पर होनी चाहिए। तभी मुझ में चरित्र-सुधार होगा। उनका वार खाली नहीं जाना चाहिए। पर इधर पिताजी थे कि उधर से चली हुई गोलियों को अपनी छाती पर ले लेते थे। दादा जी का ख्याल था कि इससे मुझे प्रोत्साहन मिलता है, साथ ही उनकी शान में भी बट्टा लगता है।

एक घटना मुझे याद आ रही है। न जाने मुझ से कौन-सी त्रुटि हो गई थी, कौन-सा अपराध हो गया था कि पारिवारिक न्यायालय में मेरी पुकार हुई। दादा जी थे ही, पिता जी भी थे, परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ही गांव के कुछ अन्य लोग भी थे, दादा जी ने पिता जी से कहा, "तुम बच्चा को (मुझको) ठीक से नहीं जानते।" पिताजी ने कहा, "मैं बच्चा को आपसे अधिक जानता हूं और समझता हूं।" बस क्या था। दादा जी क्रुद्ध हो गए कि तुम अपने पुत्र का पक्ष लेकर उसे प्रोत्साहित करते हो और मेरा अपमान करते हो। बहुत दिनों उनके क्रोध का आवेग बना रहा।

मैं इन छोटी बातों का उल्लेख इसलिये कर रहा हूं कि पता चले कि मेरे जीवन का निर्माण इन्हीं दो व्यक्तियों के हाथों हो रहा था। वैसे अन्य लोग भी थे ही और मुझ में सम्वेदनशीलता की कमी नहीं थी। मैं वातावरण के प्रत्येक पहलू से प्रभाव ग्रहण करता था। पर मेरा मन इन दोनों व्यक्तियों को ही interject कर रहा था। चाहे मैं अपने ऊपर विचार करता हूं तो ऐसा लगता है कि मेरे व्यक्तित्व में दादा जी और पिता जी दोनों वर्त्तमान हैं। मैं जीवन में बहुत चुस्त, दुरुस्त, व्यवस्थित रहना चाहता हूं। चाहता हूं कि मेरे सहकर्मी तथा विद्यार्थी सब नियमित, योजनाबद्ध रूप में काम करें। इस प्रवृत्ति के मूल में दादा जी का व्यक्तित्व है। यह भावना मैंने उनसे ही सीखी है। वे बड़े ही कार्य-कुशल थे। वे अपना काम तो करते थे दूसरों के कार्य का भार भी अपने ऊपर ले लेते थे। इसके चलते उनके हाथ में सत्ता स्वयं ही आ जाती थी। मुझमें भी सारी नम्रता, विनय, समता के बावजूद एक तरह का

आभिजात्य है, कौलीन्य है जो जल्दी झुकता नहीं। यह अंश मैंने दादा जी से प्राप्त किया है। दूसरी ओर मैं बड़ा ही लचर, अव्यवस्थित, कार्य को टालने वाला, लटकाये रखने वाला व्यक्ति हूं। यह अंश पिता जी का है। वे सचमुच ही बड़े लचड़ व्यक्ति थे। यह भी, वह भी, नहीं भी, हां भी। इधर भी, उधर भी। कभी भी कोई साफ बात नहीं। कोई भी प्रसन्न नहीं रहता था पर कोई अप्रसन्न भी नहीं था। कोई भी उनका शत्रु नहीं कि उनका गला काट दे पर कोई उनका ऐसा मित्र नहीं कि जो उनके लिये अपना गला कटाये। यही तो आज अपनी हालत भी देखता हूं। मेरा कोई भी शत्रु नहीं पर कोई भी मित्र नहीं। अजातशत्रु का नाम तो सुना था। पर अजातशत्रु-मित्र की बात नहीं सुनी थी। उसे आपको देखना हो तो मुझ में देख लीजिये। या मेरे पिता जी को। इसीलिये मैंने कहा कि मैं कुछ नहीं हूं, पिता जी तथा दादा जी के हाथों गढ़ा हुआ खिलौना मात्र हूं।

अतः दादा जी के हृदय में मुझ को लेकर बड़ी ही निराशा हुई। यह स्वाभाविक भी था। उनके एक ही सन्तान थी। एक पुत्र तो था पर वह बहुत छोटा था। उसका भविष्य कैसा होगा, यह परिवार की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करेगा अथवा उसकी लुटिया डुबो देगा इस बात की चिन्ता उन्हें सदा घेरे रहती थी। वे कभी-कभी बड़े हताश होकर कहते कि मेरे बाद इस परिवार की प्रतिष्ठा, मर्यादा तथा गौरव कैसे अक्षुण्ण रहेगा। वे ६०वां वर्ष लांघ चुके थे, स्वास्थ्य भी सठ्ठा तो पठ्ठा का था पर समय की गति को वे पहचान रहे थे। मैं सयाना भी हो चला था। पढ़-लिखकर तैय्यार था। वे आई० ए० भी पास नहीं कर सके। मैं एम० ए० था। अतः मेरे प्रति वे सदय भी थे। और मुझे लेकर उन्होंने बड़ी-बड़ी आशायें बांध रखी थीं। वैसे वे मेरे प्रति शंकालु भी थे। डर रहे थे कि चिड़िया हाथ से निकल न जाय। पर सोचते कि चलो अभी लड़कपन है। बाद में यह सनक स्वयं दुरुस्त हो जायेगी। पर जब यह बात होती नहीं दीख पड़ी तो उन्हें बहुत ही निराशा हुई और इस निराशा ने कटुता का रूप भी धारण कर लिया। वे प्रतिहिंसक हो उठे। ऐसा लगा कि किसी साधुवेषधारी ठग ने अपनी धार्मिकता का ढोंग रचकर दान-पुण्य के नाम पर उनसे गाढ़े पसीने की कमाई का बहुमूल्य अंश ले लिया हो। और बाद में पता चले कि वह उस द्रव्य को शराब पीने या द्यूत-क्रीडा में व्यय करता हो।

इधर दो-एक छोटी-छोटी बातें और हुईं जिन्होंने दादा जी के हृदय में मेरे प्रति जो स्नेह का कुछ भाव था उसे भी दूर कर दिया। मैं भद्र-अवज्ञा-आन्दोलन में खुलकर सक्रिय रूप से भाग ले ही रहा था। बल्कि कहना तो यही चाहिये कि मेरे ही बल पर वह आन्दोलन चल रहा था। करीब-करीब सब साथी जेल के अन्दर बन्द थे। ऐसी ही परिस्थिति में एक दिन जिलाधीश ने बुलाकर

दादा जी से कहा कि तुम्हारा पौत्र सरकार विरोधी आन्दोलन में भाग ले रहा है। उसे क्यों नहीं रोकते। शायद और कुछ भी धमकी दी हो। यह बात उन्हें बड़ी अपमानजनक लगी। यद्यपि वे अवकाश-प्राप्त, पेन्शन याफ्ता व्यक्ति थे पर अभी भी उनकी मनोवृत्ति वही थी जो सेवा-काल में रही। वे अपना कर्त्तव्य बड़ी निर्मम-तत्परता के साथ पालन करते थे। किसी के साथ रियायत नहीं, न बड़े के साथ और न छोटे के साथ। उठकर अपना काम करते थे और अपने मातहत अधिकारियों से भी डटकर काम लेते थे। परिणाम यह होता था कि कोई उनसे प्रसन्न नहीं रहता था। पर मन ही मन उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा के सब कायल थे। वे छोटों के साथ तो थोड़ा कभी नरम पड़ भी जाएं पर बड़ों की एक भी वेतुकी बात को सहन नहीं कर सकते थे। पर यह शिकायत जो जिलाधीश ने उनसे की उसका कोई उत्तर उनके पास नहीं था। वे चुप हो गये होंगे। विष का घूंट पीकर रह गये होंगे। और इस अपमान का उत्तर-दायित्व मुझ पर था। जैसे किसी बड़े आत्मीय व्यक्ति ने बुरी तरह धोखा दिया हो।

परिस्थितियां यही मोड़ ले रही थीं कि एक दिन पटने से एक इन्क्वायरी मेरे बारे में आई। इन्क्वायरी में कौन से प्रश्न पूछे गये थे, यह तो पूर्णरूप से याद नहीं है। पर दो-एक प्रश्न ये थे। (१) क्या अमुक तिथि को यह व्यक्ति इलाहाबाद गया था ? और गया था तो कहां ठहरा ? (२) रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी तथा पं० पारसनाथ त्रिपाठी से इसके क्या सम्बन्ध हैं ? (३) क्या बिहार के क्रन्तिकारियों से इसका सम्पर्क है ? इत्यादि। बात यह है कि उन दिनों क्रान्तिकारी दल की सक्रियता भी बढ़ गई थी। भगतसिंह के असेम्बली बम काण्ड की स्मृति ताजी थी। पटने में भी सूरजनाथ चौबे ने एक बम फेंका था। इलाहाबाद में चन्द्रशेखर आजाद पुलिस की गोली के शिकार हुए थे। पटने में 'युवक' नामक मासिक पत्रिका से मेरा घनिष्ठ सम्बंध था और मेरे दो-एक लेख भी प्रकाशित हुए थे जिनकी ध्वनि उग्र ही थी। सोशलिज्म पर मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था जो शायद हिन्दी में तो सोशलिज्म पर पहला ही लेख होगा। इन सब बातों के कारण सरकार के कान मेरे विरुद्ध खड़े हो रहे थे। 'होली' के विशेषांक में मेरा एक बड़ा ही उत्तेजनापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था जिसने सरकार के कान खड़े कर दिये थे। पर सच्ची बात तो यह है कि किसी क्रान्तिकारी से मेरा गाढ़ा परिचय न था और न मैं षड्यंत्रों में भाग ही लेता था पर सरकारी तबकों में सन्देह अवश्य था और मुझ पर नजर रखी अवश्य जाने लगी थी।

इन दो घटनाओं ने मेरे दादा जी के हृदय को चूर-चूर कर दिया होगा। और मन ही मन वे हम लोगों को अलग कर देने की योजना बनाने लगे। हम लोगों

का संयुक्त परिवार था। सारी सम्पत्ति साथ थी। इसलिए परिवार का कोई भी कुछ करता, अच्छा या बुरा, उस से उनका सम्बन्ध हो ही जाता था, उसका उत्तरदायित्व उन पर आ ही जाता था। अतः, यदि सम्पत्ति का बंटवारा हो जाय तो मेरे निन्दनीय, प्रतिष्ठाघाती, उज्ज्वल वंश में धब्बे लगाने वाले कारनामों की जवाब देही से तो वे मुक्त रहेंगे, ऐसी उनकी मनोवृत्ति हो गई थी। पर सहसा तो यह संभव था नहीं। पर वे कड़े जरूर पड़ने लगे। उनके हाथ में सबसे बड़ा अस्त्र था द्रव्य। जब वे अप्रसन्न होते थे रुपये-पैसे देना बन्द कर देते थे। वे और भी अनेक तरह की कृपाओं से वंचित करने लगे। वे बड़े ही दबंग व्यक्ति थे। श्री भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित टेढ़े-मेढ़े रास्ते में जो ददुआ के चरित्र को पढ़ता हूं तो ऐसा लगता है मेरे दादा जी को सामने रख कर उनका निर्माण किया गया है। कहने का मतलब यह है कि मेरे साथ इस मनोवैज्ञानिक युद्ध में उन्होंने हार नहीं स्वीकार की।

पर पिता जी ने तुरन्त हार स्वीकार कर ली। मेरे प्रति उनका व्यवहार एकदम बदल गया। यहां तक कि वे मेरे प्रति एकदम सदय हो उठे। पहले तो नाराज भी होते थे पर अब तो उनकी नाराजी न जाने कहां चली गई। वे कभी-कभी कांग्रेस शिविर में आते, कुछ रुपये-पैसे भी दे जाते। और सबसे बड़ी बात यह है कि कभी भी कांग्रेस छोड़ने को नहीं कहते। बल्कि लोगों के द्वारा जो बातें सुनने को मिलतीं उनसे ऐसा ही लगता कि वे प्रसन्न ही हैं कि उनके पुत्र की प्रतिष्ठा जनता में इतनी हो रही है। वह इतना नाम कमा रहा है। उनका हृदय कितना कोमल है यह मैंने उस समय देखा जब मैं पकड़ा जाकर न्यायालय में लाया गया। उस समय वे स्वयं आए और मेरे छोटे भाई अवधराज को भी साथ लाए जिसने मुझे एक माला पहनाई। यह उस समय के लिए और मेरे पिता जी के लिए कम साहस की बात नहीं थी। उस समय कौन कल्पना कर सकता था कि भारत इतनी जल्दी स्वतन्त्र हो जाएगा। उस समय कांग्रेसी विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति दिखलाना तो घर को फूंकना था।

पर स्नेह से सब कुछ संभव हो सकता है। उनके वात्सल्य की तरलता ने ही उनके हृदय में इतनी दृढ़ता उत्पन्न की होगी इसमें संदेह नहीं। आज जब इस घटना पर विचार करता हूं तो ऐसा लगता है पुत्र ने पिता को परास्त तो किया था पर उसी समय वह हारा भी था। मुझे अपनी हार का अहसास उस समय नहीं हुआ, एक तरह से विजय की ही अनुभूति हुई हो पर वास्तविकता यह थी कि मैं जिसे अपनी विजय का चरमोत्कर्ष समझ रहा हूं वही मेरी पराजय का प्रारम्भ भी था। पिता जी भी शायद उस समय भले ही यह बात नहीं समझते हों पर वे बहुत ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अस्त्र से काम लेते थे। या वे

जानबूझकर इस अचूक रामबाण का प्रयोग कर रहे थे ? मन में होता है कि उनसे ही चलकर पूछ क्यों न लिया जाय ? पर एक तो जबकि ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं (उदयपुर में) वे दो हजार मिल की दूरी पर बैठे हैं। मैंने कहा कि बैठे हैं। पर बैठे नहीं सोए होंगे। क्योंकि वार्द्धक्य के कारण उनमें अधिक शारीरिक शक्ति नहीं है। दूसरी यह बात कि यदि उनसे पूछा जाय तो वे क्या कह सकेंगे भला जो हम नहीं कह सकते। यदि वे कुछ कहेंगे तो भी उन दिनों की बातों पर विचार प्रकट करने वाले दूसरे व्यक्ति की तरह होंगे। कवि यदि अपनी रचना की आलोचना करे भी तो वह अपनी कविता के अनेक आलोचकों में से एक होगा। उसकी कोई विशिष्ट स्थिति नहीं होगी।

पिता जी ने मेरे जैसे विद्रोही, सरकार को उलट-पुलट कर देने वाले, षडयन्त्रों में संलग्न रहने वाले पुत्र को अपना नैतिक समर्थन, बातों से तो नहीं व्यवहार से दिया। यहां पर एक बात की याद आ रही है जिसका सम्बन्ध पिता और पुत्र पं० मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू से है। मैं नहीं कह सकता कि यह बात कहां तक ठीक है पर लोगों के बीच यह बात प्रचलित थी कि पं० मोतीलाल नेहरू नरम दल के थे और कांग्रेस के उग्र राजनैतिक कार्य-क्रम से उनकी सहानुभूति नहीं थी। पर उन्होंने जो कांग्रेस की राजनीति को अपना लिया उसका श्रेय पं० जवाहरलाल को था। जब उन्होंने देखा कि उनके ऐश्वर्य का एक मात्र अधिकारी उस पर लात मारकर देश के लिए फकीर हो रहा है तो मारो गोली ऐशो आराम को, धन-वैभव को—**वाताभ्रविभ्रमिव वसुधाधिपत्यं, आपातमात्र मधुरा विषयोपभोगाः**" और वे कांग्रेस में कूद पड़े। मतलब कि पुत्र प्रेम ने ही उन्हें इतनी आन्तरिक शक्ति दी। पं० मोतीलाल को बनाने में जवाहरलाल का भी हाथ था।

एक बात की और भी याद आ रही है जो मेरे श्रद्धेय मित्र श्री गुप्तेश्वर पांडेय जी कहा करते थे, पं० मोतीलाल तथा जवाहरलाल के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में। पांडेय जी, उन कुछ इने-गिने व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने मेरे जीवन को कितने रूपों में प्रभावित किया है। कभी उनकी भी चर्चा करूंगा। पर यहां पर जिस बात का उल्लेख कर रहा हूं उसका त्रिगुणात्मक महत्त्व है। (१) एक मेरा आत्मीय सुहृदय जिसने मेरी जवानी के दिनों को अनेक रूप से प्रभावित किया था, बनाया था, बिगाड़ा था और मुझ से आज बहुत दूर है, वह बिहार में है और मैं राजस्थान में। **खाक ऐसी जिन्दगी पर हम कहीं और तुम कहीं,** वो राजनीति में हैं और मैं शिक्षण कार्य में, जिससे आज ३५ वर्षों के बीच पत्र-व्यवहार का भी अवसर नहीं आया—ऐसे सुहृदय की स्मृति तो उभर आई। यह मेरा हृदय जो दुनिया के गर्दिश में पड़कर पत्थर हो गया है वह हिमालय जरा गला तो, आर्द्र तो हुआ, उसमें जरा दर्द तो हुआ और वही

उठकर तसल्ली तो दे रहा है और दिले बेकरार को कुछ करार तो दे रहा है। यह क्या कम है ? (२) देश के दो महान् कर्णधारों, जिनके नेतृत्व में नवीन भारत का निर्माण हुआ, उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश पड़ा—वैसा प्रकाश जो किसी दूसरी ओर से नहीं पड़ सकता था, प्रकाश की वह किरण जो पतली अवश्य हो पर अन्धकार की सेना से लड़ने की ताकत रखती हो। (३) पिता तथा पुत्र का पवित्र सम्बन्ध जिसको दशरथ-राम कथा ने भारतीय संस्कृति में सुरक्षित रखा है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिला। आज जब मनोविज्ञान की कृपा से पिता और पुत्र में इडिपस के नाम पर प्रतिद्वन्द्विता चल रही है उस समय प्यार की धार फूटती-सी दिखलाई तो पड़ी। यह हमारे जैसे अनेक व्यक्तियों के लिए उत्साहजनक तथा स्फूर्तिप्रद होगा।

सो पांण्डेय जी ने जो घटना सुनाई थी वह यह है। उन्होंने किससे यह बात सुनी वह मुझे आज याद नहीं आता। कांग्रेस की कोई मीटिंग थी। सब नेतागण उपस्थित थे। एक ही भवन में अधिकांश नेताओं के ठहरने की व्यवस्था की गई थी। पं० मोतीलाल नेहरू तथा पं० जवाहरलाल जी भी वहीं ठहरे थे। जवाहरलाल जी ऊपरी मंजिल में और पं० मोतीलाल जी निचली मंजिल में। वह भवन नदी के किनारे अवस्थित था। नदी में बाढ़ आई हुई थी। एक दिन श्री राजेन्द्र बाबू ने सुखशायनिक के रूप में पं० मोतीलाल के पास जाकर पूछा—

"पंडित जी ! रात को अच्छी नींद आई ?"

पंडित जी ने कहा, "नहीं, नींद नहीं आई।"

"क्यों, मौसम तो बड़ा अच्छा था। मच्छर-वगैरह भी नहीं थे। तब अनिद्रा की बात कैसी ?"

"नहीं, सो बात नहीं। जवाहर ऊपर की मंजिल पर था। नदी में बाढ़ आई हुई है। डर था कि कहीं उसने किसी आदमी को बहते हुए देखा तो उसकी रक्षा के लिए नदी में कूद पड़ेगा। यही चिन्ता रात भर खाती रही।"

हिन्दी साहित्य के आलोचना-क्षेत्र में फ्रायड और मार्क्स की हस्ताहस्ति और केशाकेशि बहुत चलती है। हिमांशु जी के उपन्यास 'लोहे के पंख' की सनिचरी सिन्दूर से मांग टिकाती है तो उसके पति में काम-भाव जगने लगता है पर बगल में भूख से बिलबिलाते बच्चे की ओर देखता है तो वह ठण्डा पड़ जाता है। एक आलोचक ने कहा है कि मगरु की यह विरक्ति फ्रायड के मुंह पर मार्क्स का जबरदस्त तमाचा है। खैर यह तमाचा तो औपन्यासिक है। मैंने जिस बात का उल्लेख किया है वह वास्तविक जगत की है। अब पाठक निर्णय करें कि कौन तमाचा अधिक जबरदस्त और जोरदार है। मुझे तो इडिपस मैदान छोड़कर भागते नजर आ रहे हैं।

पिताजी ने मेरे जैसे विद्रोही, सरकार को उलट-पुलट कर देने वाले, षड्यन्त्रों में संलग्न रहने वाले पुत्र को अपना नैतिक समर्थन, बातों से तो नहीं पर व्यवहार से, देकर अद्भुत साहस का परिचय दिया ही था पर पिता का हृदय कितना विशाल होता है, अपने पुत्र के लिए उसकी छाती कितनी चौड़ी होती है, इसका प्रमाण अब मिलने वाला था जबकि उन्होंने गांव के सब बन्धुओं के सामाजिक विरोधों की परवाह न कर मेरे क्रान्तिकारी विवाह में सम्मिलित होने का साहस किया। मेरा विवाह उस समय के लिए बड़ी ही साहसपूर्ण तथा क्रान्तिकारी घटना समझी जाती थी। पर उसकी कहानी थोड़ा ठहर कर कहूंगा। मैंने अभी अपने को सरकार को उलट-पुलट कर देने वाले षड्यन्त्रों में संलग्न रहने वाला कहा है अथवा यों कहिए कि मेरी लेखनी ने लिख दिया है।

क्यों लिखा? मैं आज जब अपने सारे जीवन पर विचार करता हूं तो लगता है कि मैं क्रान्तिकारी कभी नहीं रहा। जिन तत्त्वों को लेकर सावरकर, आजाद, भगतसिंह का निर्माण होता है, मेरे व्यक्तित्व में उन तत्त्वों का सम्पुट नहीं। तब लेखनी ने असत्य ही लिख दिया? यह सम्भव नहीं। क्योंकि सरस्वती कभी असत्य भाषण कर सकती है? नहीं। बात यह है कि मैं क्रान्तिकारी तो था नहीं पर लोगों की धारणा थी कि मेरा सम्बन्ध क्रान्तिकारियों से है। इसके दो उदाहरण मुझे याद आ रहे हैं।

ऊपर की पंक्तियों में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि किस तरह मेरे सम्बन्ध में मेरे घर पर सरकार की तरफ से एक इन्क्वायरी गई थी। इस बात की चर्चा सब जगह छिड़ गई यह स्वाभाविक ही था। उस समय भी मुसलमान कांग्रेस में खुलकर तो साथ नहीं थे पर हां दो-एक नवयुवक कांग्रेस आफिस में आते-जाते अवश्य थे, बातें करते, योजनाएं बनाने में सम्मति इत्यादि देते थे। एक थे हारून, दूसरे रफाकत। श्री हारून तो जेल भी हो आए थे। हां, रफाकत छिपे रुस्तम ही रहते थे, इधर-उधर की खबरें पहुंचाते इत्यादि। उस समय मेरे एक मित्र थे इन्द्रदेवसिंह। ये भी मेरी ही तरह कालेज की पढ़ाई छोड़कर कांग्रेस में आ गए थे। एक दिन रफाकत से उन्होंने मेरे घर आने वाली इन्क्वायरी की चर्चा की। रफाकत बड़े घबराए। बोले—"ओह दैट मिस्टर उपाध्याय" तब तो बड़ी आफत हुई। हम सब मारे गए। अभी कुछ दिन हुए यहां पर किसी उपाध्याय के नाम से एक सन्देहजनक पार्सल आया था। सरकार का ख्याल है कि उसमें पिस्तौल वगैरह भी थे। यह पार्सल रहस्यात्मक ढंग से छुड़ा लिया गया। सरकार उस उपाध्याय का पता लगा रही है।" कहने का मतलब यह कि मेरे साथ काम करने वाले अन्तरंग साथियों को भी ऐसी शंका हुई कि मैं क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध रखता हूं। उनको

मेरे सम्बन्ध में कितनी शंका थी इसका छोटा-सा उदाहरण लीजिए। एक दिन मैं अपने गांव में घर पर सोया हुआ था। मेरी पत्नी साथ थी। इन्हीं तूफानी दिनों में मेरा विवाह हो गया। कैसे हो गया इसकी मनोरंजक कथा मैंने कही ही नहीं। कहने वाला हूं। सो मैं अपनी प्रिया के साथ अन्त:पुर में शयन कर रहा था। उन दिनों पति-पत्नी मिलन बड़े ही गुप्त ढंग से रात्रि में ही सम्भव हो सकता था। सब लोग, विशेषत: महिलाएं जागती तो रहती थीं ही पर ऊपर नाटक यही किया जाता था मानो कोई नहीं जानता। उस समय अन्त:पुर को किसी तरह "डिस्टरब" नहीं किया जाता था। ऐसे मैं एक रात को अन्त:पुर में निद्रामग्न था कि दरवाजे पर बड़े जोरों से खटखटाहट हुई जैसे कोई बहुत व्यग्र हो द्वार पर धक्के दे रहा हो। पता चला कि आरा से कांग्रेस के कुछ कार्यकर्त्ता आए हैं और कुछ अत्यन्त आवश्यक कार्यवश मुझ से अभी ही मिलना चाहते हैं। आज जब इस घटना को याद करता हूं तो एक लोकगीत की स्मृति हो आती है। **"सूतलों में रहल जे सैंया संगे सुख सेजे, सपना में देखलों कि भइल रे लड़कवा"** अर्थात् मैं अपने पति के साथ सुख से सोई हुई थी कि सपने में देखा कि मुझे पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी तरह मैं शयनागार में था कि स्वप्न की तरह यह बात सामने आई।

क्यों क्या बात है भाई! क्या कोई कांग्रेस के काम में संकट तो नहीं आया? क्या काशीनाथ ने विदेशी वस्त्रों को बेचना बन्द करना नहीं स्वीकार किया? चलो अभी देखता हूं। क्यों नहीं करता है। अभी उसकी दुकान पर पिकेटिंग बैठा दूंगा। बोले, "नहीं, नहीं। सो बात नहीं। इधर पुलिस वालों के तबके में क्रान्तिकारियों को लेकर बड़ी हलचल थी। एक पार्सल आया था। उसे पुलिस देखना चाहती थी। पर बड़े रहस्यात्मक ढंग से छुड़ा लिया गया है या गायब हो गया है। पुलिस परेशान है। आरा से पुलिस वालों का एक दल आ रहा है किसी के घर पर छापा मारकर माल बरामद करने के लिए। हमें, भाग्यवश, पूर्व सूचना मिल गई। हमने सोचा कि आप पर ही यह आफत आने वाली है। अत: कृपया आपके पास कोई आपत्तिजनक वस्तु, पिस्तौल, बम्ब वगैरह, हो तो उसे तुरन्त हटा दीजिए।" मुझे इस बात को सुनकर बड़ी हंसी आई। लोग कितने भ्रम में रहते हैं। मेरे पास कोई भी वैसी वस्तु नहीं थी। केवल एक किताब थी ट्राट्स्की की 'हिस्ट्री आफ रिवोल्यूशन।' वह कोई जब्तशुदा पुस्तक तो थी नहीं। पर उन दिनों उसको पढ़ने वाले भी सन्देह की दृष्टि से देखे जाते अवश्य थे।

इन दो घटनाओं का उल्लेख इसलिए मैंने किया है ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि दादा जी जैसे पुराने संस्कारों में पले व्यक्ति का मेरे प्रति, मेरी अधार्मिक तथा ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के प्रति कठोर हो जाना स्वाभाविक ही था। उल्लेख

करने का दूसरा कारण यह भी है कि मेरे मन में अपने प्रति आत्मगौरव के भाव जगे। आज इतनी बड़ी सरकार भी मुझ जैसे अल्पज्ञ और अल्प-साधन नाचीज़ से दहशत खाती है। आज मेरी हिम्मत की चर्चा गैर की महफिल में है—इस तरह की मनोवृत्ति से उल्लास उत्पन्न हुआ। तिस पर भी मैंने देखा कि मेरी नई पत्नी ने जब यह बात सुनी तो आनन्द से खिल उठी। उसका पति कितना बड़ा महान् व्यक्ति है। उस समय सारे देश की नस-नस में विदेशी शासन विरोधी भावना प्रवाहित हो रही थी। जो लोग खुलकर विरोध करते थे उनकी तो बात ही दूसरी है पर जो लोग सरकारी सेवा में भी थे वे भी कांग्रेस के आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखते थे। आजकल हम लोग एक शब्द से बहुत परिचित हो गये हैं; 'टोटल वारफेअर' अर्थात् सम्पूर्ण युद्ध। सम्पूर्ण युद्ध का अर्थ यह कि वैसा युद्ध जिसमें देश की सारी जनता सम्मिलित रूप से भाग लेती हो। प्राचीन काल का युद्ध सम्पूर्ण युद्ध नहीं था। युद्ध करने का, देश की रक्षा करने का, आक्रमणकारी शत्रुओं के प्रतिरोध करने का काम क्षत्रिय जाति का था। दूसरों से इसका बहुत सम्बन्ध नहीं था। युद्ध होते रहते थे, राजा लोग आपस में लड़ते रहते थे, किसान गीत गाते, हल चलाते रहते थे। पर आज यह सम्भव नहीं। सैनिक युद्ध के मोर्चे पर लड़ते अवश्य हैं, जनता वहां नहीं जाती। (Conscription) के अवसर पर प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति का वहां जाना अनिवार्य हो जाता है। पर सैनिकों को वस्त्र, भोजन, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि से सुसज्जित रखने के लिए सब नागरिकों को कुछ न कुछ अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। प्रकारांतर से देश की सारी जनता युद्ध की अवस्था में रहती है। जिस समय भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन चल रहा था उस समय "टोटल वारफेअर" यह शब्द इतना प्रचलित भले ही न हुआ हो पर यह शब्द जिस भावना का प्रतीक है वह भावना पूर्ण रूप से सक्रिय थी। सब लोग आन्दोलन के साथ थे, उससे सहानुभूति रखते थे और कांग्रेस के सैनिकों की सहायता करते थे।

और मैं इन्हीं परिस्थितियों में यौवन के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा था। परिस्थितियां बदल रही थीं। दादा जी साथ छोड़ रहे थे, पिता जी साथ दे रहे थे। मैं स्पष्ट देख रहा था कि पिता जी को यह सौदा बड़ा महंग पड़ रहा है। और सब काम तो हो गया था। मैं अब पढ़-लिखकर तैयार ही था। यह बात दूसरी है कि पढ़ाई-लिखाई से जिस लाभ की सम्भावना थी, उस पर अपनी ही मूर्खता के कारण पानी फेर देता होऊं। पर परिवार के सदस्यों विशेषतः पिता जी ने तो अपना कर्तव्य पूरा कर ही दिया था। बहन थी उसकी सादी हो गई थी। केवल रह गये थे मेरे लघु भ्राता अवधराज जिन्हें शिक्षा देनी थी और रह गई मेरी छोटी बहन दमयन्ती जिसकी शादी करनी थी। ये कार्य बहुत ही व्यय-साध्य थे। और पिता जी के पास सब कुछ था, दिल था जिसे दरियाव कहते

हैं, हृदय था जो हिमालय की तरह गौरव गिरि उच्च उदार था पर यदि नहीं था तो द्रव्य। यह तो नहीं कहा जा सकता कि दादा जी के पास दिल नहीं था, हृदय नहीं था पर उसके आने, द्रवित होने का ढंग दूसरा था। पर उनके पास पैसा अवश्य था। और उसे खर्च कर सकते थे। उन्होंने इसी अस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने द्रव्य देना बन्द कर दिया। मानो ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया।

पिता जी को सचमुच ही बड़ा कष्ट था। हम लोगों का परिवार बड़ा प्रतिष्ठित था। सम्पत्ति के नाम पर तो कुछ था नहीं पर हम लोग सम्पत्तिवान् समझे जाते थे। सरस्वती की थोड़ी-बहुत कृपा हमारे परिवार पर थी, पर लक्ष्मी की भी कृपा है ऐसी धारणा लोगों के बीच क्यों है। साम्पत्तिक अवस्था का अनुमान इसी आधार पर किया जा सकता है कि जब सम्पत्ति का बंटवारा होने का समय आया तो हमें कठिनता से भूमि के १० बीघे मिले। पर लोगों के बीच हम लोगों की सम्पत्ति का आतंक अवश्य था। तिलक, दहेज खूब कसकर लिया जाता था और दिया जाता था। सच पूछिये तो मेरी समझ में यह बात नहीं आती थी कि हमारी इतनी प्रतिष्ठा का क्या कारण है? क्यों लोग हम लोगों को इतना सम्पन्न समझते हैं? एक बार मैंने यह प्रश्न अपने पूज्य सम्बन्धी स्व० पंडित धर्मराज ओझा से किया था। उन्होंने यही उत्तर दिया कि इधर के ब्राह्मणों में तो इतनी भी सम्पत्ति किसी के पास नहीं है।

धर्मराज जी वाली छोटी-सी बात का उल्लेख मैंने क्यों किया? इसके उल्लेख करने की जरा भी मेरी इच्छा नहीं थी। जिस प्रसंग की चर्चा छिड़ी है उसमें इसकी विशेष संगति भी नहीं दीख पड़ती। पर फिर भी यह बात चुपके से मेरे स्मृति-पटल पर उभर कर आ गई इसके लिए कोई गहरा मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य होना चाहिए और मैं जब इस पर ध्यान से विचार करता हूं और अपने चरित्र तथा जीवनशैली की कुछ विशेष प्रवृत्तियों से मिलाकर देखता हूं तो एक बहुत ही नेत्रोन्मीलक बात सामने आती है। मनोवैज्ञानिकों ने कहा ही है कि जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में ही मनुष्य को जो कुछ बनना होता है बन जाता है। बालक बहुत ही संवेदनशील प्राणी होता है, और अपने पूरे प्राणावेग से प्रेरणाओं को ग्रहण करता रहता है। वह सब बातों और घटनाओं की संगत और युक्तियुक्त व्याख्या चाहता है। उसके साथ बहुत ही स्पष्ट, निश्छल तथा संगत व्यवहार होने चाहिए, अन्यथा उसमें कितनी घुंडियां घर कर जाती हैं और आजीवन उसे परेशान किये रहती हैं। मुझे ऐसा लगता है कि शैशवावस्था में मेरे अभिभावकों के द्वारा मेरे जीवन का संचालन ठीक तरह से नहीं किया गया। आज भी न जाने क्यों यह भावना मेरे मन में काम करती रहती है कि जिस पद को मैं अलंकृत कर रहा हूं, अथवा जितनी मेरी प्रशंसा लोगों के द्वारा की जाती है उसकी पात्रता मुझमें नहीं है। जब किसी के बारे में कुछ भी प्रशंसा-

त्मक बातें सुनता हूं तो मन में प्रथम प्रश्न यही होता है कि क्या वह व्यक्ति इस प्रशंसा का पात्र है ?

इस तरह की प्रवृत्ति के दो उदाहरण मेरे सामने हैं। मैं अपने हृदय को खोलकर ही यहां रख रहा हूं। यदि किसी तरह अपने साथ छल करने की ही प्रवृत्ति रहती तो अपने कच्चे चिट्ठे के उघेड़ने के फेर में ही क्यों पड़ता ? मेरे पास और भी काम नहीं हो सो बात नहीं। मैं तो यह दावा नहीं कर सकता कि मैं इस समय पूरी ईमानदारी से काम ले रहा हूं। मतलब अपने जीवन की सारी तहों को खोलकर रख रहा हूं। नहीं, यह बात नहीं। इतना साहसी मैं कभी भी नहीं रहा। मैं अपने जीवन के वे निभृत अंधकारमय स्थल जहां नारकीय कीड़े कुलबुलाते रहते हैं वहां मैं निश्चय ही आपको नहीं ले जा रहा हूं। पर जिस तह तक आपको ले जा रहा हूं उस सीमा में थोड़ा ईमानदार रहने का साहस बटोर रहा हूं।

पहली बात लूंगा अपने धर्म-पिता स्व० महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा की। बचपन से ही जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था तभी से उनकी विद्वत्ता, पांडित्य और प्रखर प्रतिभा की बात सुनता रहा था। यह भी सुना था कि उन्होंने सम्पूर्ण "चैम्बर्स डिक्सनरी" को कण्ठाग्र कर लिया है। यह भी सुना था कि वे फ्रेंच तथा जर्मन भी जानते हैं। एक सभा में जर्मन भाषा में भाषण देकर लोगों को उन्होंने चमत्कृत कर दिया था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक काशीप्रसाद जायसवाल तो उनके "क्रीएशन" हैं। उनकी मृत्यु के बाद जायसवाल जी ने कहा था कि कालिदास के बाद संस्कृत का ऐसा विद्वान् आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। वे सात दिनों में सातों भारतीय दर्शनों का ज्ञान किसी को करा सकते थे। यदि कोई उनकी प्रतिस्पर्धा कर सकता था तो पंडित हरिहर कृपालु। आज तक एक व्यक्ति भी नहीं मिला जो उनकी विद्वत्ता के विरुद्ध एक शब्द भी कहता हो। महापंडित राहुल संकृयतायन उनकी प्रशंसा करते अघाते नहीं थे। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान पंडित अयोध्याप्रसाद, वैदिक "रिसर्च स्कॉलर" ने मुससे कहा था कि उनके अन्दर दार्शनिक प्रवृत्ति उत्पन्न करने का श्रेय शर्मा जी को ही है। शर्मा जी के सहयोगी थे एक पंडित धर्मराज ओझा जिनकी चर्चा मैं ऊपर कर आया हूं। वे शर्मा जी के सहयोगी थे। पटना कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। शर्मा जी के ही "अण्डर" काम करते थे। यह नियम-सा है कि प्रायः अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्चाधिकारियों से प्रसन्न नहीं रहते। श्री ओझा जी संस्कृत एम. ए. की परीक्षा में दो बार बैठे थे पर उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त नहीं हो सकी। इसके लिए वे शर्मा जी को ही उत्तरदायी बतलाते थे और मन ही मन उनसे असन्तुष्ट थे। पर वे भी शर्मा जी के पांडित्य का लोहा स्वीकार करते थे। एक बार बातचीत के दौरान उन्होंने कहा, "एज ए मैन ही वर्स्ट,

बट, एज ए स्कॉलर, ही इज बैस्ट" । इससे बढ़कर उनके अतुलनीय तथा अगाध वार्हस्पत्य का प्रमाण क्या हो सकता है।

आज अपने से मैं उनकी तुलना करता हूं। इसलिए करने के लिए मन मचल उठा है कि जब उनके निधन के उपरान्त उनके परिवार में सम्मिलित हुआ अर्थात् उनकी एक कन्यारत्न मुझे सहधर्मिणी के रूप में प्राप्त हुई तो मेरे मन में यह कल्पना जगी कि शर्मा जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने का सर्वोत्तम रूप यही है कि मैं भी उनकी ही तरह विद्वान् बनूं। तभी उनके परिवार की सदस्यता का पात्र हो सकता हूं और इसके लिए मैंने प्रयत्न भी किए। संस्कृत के एम० ए० तथा काव्यतीर्थ की परीक्षायें मैंने इसी भावावेश में दी थीं। मुझ में न जाने क्यों यह प्रवृत्ति है कि मैं जिस व्यक्ति से प्रभावित होता हूं उसी के अनुरूप बनना चाहता हूं। उसी की तरह आचरण करना चाहता हूं। आज से करीब बीस वर्षों पूर्व एक छात्रा मिली थी। वह महाराष्ट्रीय थी। मैं उससे प्रभावित था। बड़ी सीधी-सादी कर्तव्यपरायण, हिन्दू संस्कृति की उपासिका, गाँधी से अधिक सावरकर में विश्वास करने वाली लड़की थी। उसी के प्रति अपने भावों के सुमन अर्पित करने के लिए मैंने मराठी भाषा सीखने का प्रयत्न किया था। और आज अपने विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० जी० एस० महाजनि के सौम्य, उदार व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण मुझ में वही पुराने भाव जागृत हो गये हैं और मैं मराठी भाषा सीख लेने की बात बहुत गंभीरता पूर्वक सोच रहा हूं। जब उदयपुर आया तो अपने मकान में ही रहने वाले एक शेषाद्रि परिवार के सम्पर्क में आया। यों तो तमिल सीखने तथा सिखलाने की चेष्टा मैंने राष्ट्रीयता के भावों के विकास के लिए पहले भी की थी। अजमेर में भी, जयपुर में भी मैंने प्रयत्न किए थे पर बहुत सफलता नहीं मिली। पर उदयपुर में इस कार्य में सफलता मिल रही है। सोचता हूं कि क्या इसमें कहीं श्रीमती शेषाद्रि के उदार, कमनीय, सौम्य, आदरयुक्त व्यक्तित्व का प्रभाव काम नहीं कर रहा है ?

मतलब यह है कि मैं श्री शर्मा जी के गुरु-गम्भीर पाण्डित्य, ज्ञान-गरिमा, न्यायप्रियता, निष्पक्षता इत्यादि मानवोचित गुणों से बहुत ही प्रभावित था। उनके विषय में कहा जाता था कि वे प्रकृतिवक्र हैं, लोगों के साथ उनका व्यवहार रूखा होता है, वे किसी की भी परवाह नहीं करते। इसी से उनके कालेज के प्रिंसिपल वगैरह भी उनसे प्रसन्न नहीं रहते। पर वे अद्वितीय विद्वान् हैं, उनके ऐसा संस्कृत साहित्य का ज्ञाता दुर्लभ है। अतः कोई उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। मुझे उनसे एक-दो बार मिलने का तथा वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त था। मैं उनके वार्तालाप से प्रभावित भी था। मेरे साथ तो उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल, सदय, तथा सहानुभूतिपूर्ण ही था। उनकी

बाह्याकृति में भले ही कुछ सौम्यता हो, आमंत्रित-सी नहीं करती दीख पड़ी। पैरों तले बिछी न जान पड़े पर अन्दर से तो वे भावुक तक जान पड़े। पर इतने पर भी मुझे आज तक यह बात समझ में नहीं आई कि उनकी इतनी प्रसिद्धि का कारण क्या था ? उनकी कृतियां अनेक हैं, उनकी रचनाओं का संग्रह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने रामावतार ग्रंथावली के नाम से प्रकाशित भी किया है। ये रचनायें महत्वपूर्ण भी हैं। पर मुझे उनमें वह मौलिकता, सर्वातिशायी, सर्वाभिभावी, क्रांतिकारी चिंतनधारा न मिली जो बरबस अभिभूत कर ले। श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य के विचारों से हम आज सहमत भले ही न हों पर जिस शक्ति से, तेज से, तर्क से वे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगते हैं वे यों ही टाल देने की चीज नहीं हैं।

शर्माजी के पुत्र श्री नलिनविलोचन जी की स्मृति अभी ताजी है। वे हमारे बीच नहीं हैं यह कल्पना भी नहीं हो पाती। वे ठीक अपने पिता के अवतार थे। शरीर तथा बाह्य आकृति से ही नहीं प्रतिभा से भी। अवस्था में वे मुझसे छोटे थे और उनके साथ मेरे कुछ बहुत ही घनिष्ठ वर्ष व्यतीत हुए हैं। मैंने वह भी समय देखा था जबकि वे इतने जन-भीरु, लजकोकंड थे कि लोगों के बीच जीभ खोलना भी उनके लिए कठिन था। आरा में जब उनकी नियुक्ति प्राध्यापक के रूप में हुई तो, सच पूछिए मैं शंकालु ही था कि वे छात्रों को कैसे संभाल सकेंगे। वह भी समय देखा था जबकि लोग यह कहते थे कि पटना कालेज में एम० ए० के छात्रों को संतुप्ट करने वाले नलिन जी हैं। शर्माजी में तथा नलिन जी में बहुत ही साम्य था। दोनों ही बहुज्ञ, बहुश्रुत, बहुभाषाविद् थे। दोनों ही एकान्तप्रिय, चिन्तनशील, अन्तर्मुखी, प्रदर्शन-विरक्त विद्या-व्यसनी थे पर नलिन जी के व्यक्तित्व का आदर मुझ में अधिक इसलिए है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को तथा साहित्यिकों को कुछ नूतन विचार दिये हैं और मस्तिष्क को सोचने की सामग्री दी है। कविता में नकेनवाद उन्हीं की देन है। उसी की परिणति अब शिवनन्दन जी के हाथों लिंगमातोलवाद के रूप में हो रही है। नलिन जी के प्रति मेरे पक्षपात का कारण यह भी हो सकता है कि वे एक तरह से समवयस्क थे, हम दोनों ही हिन्दी-प्रेमी तथा सेवी थे। उनका कृतित्व मेरी आंखों के सामने था।

शर्मा जी ने युवावस्था में क्या किया था यह बात मैंने सुनी भर थी देखा नहीं था। उनके 'परमार्थ दर्शन' की बड़ी प्रसिद्धि थी। अंग्रेजी में प्रश्नोत्तर के रूप में उनकी पुस्तक भी इस विषय पर मैंने देखी थी। पर आज उसकी कोई चर्चा नहीं करता। सम्भव है कि नकेनवाद के साथ भी वही घटना घटे। पर चूंकि यह पौधा मेरे देखते-देखते अंकुरित हुआ और कुछ विद्रोह का स्वर लिए हुए था अतः इसके प्रति मेरा पक्षपात स्वाभाविक है। मैं पूर्ण रूप से

विद्रोही तो नही हूं। आधुनिकता की परिभाषा मुझ पर लागू नहीं हो सकती। आधुनिक का मतलब पूर्ण रूप से निर्लेप, परम्परा को रौंदकर चलने वाला, ऊपर से तो नहीं पर अन्दर से पश्चिमीय संस्कृति के रंग में डूबा हुआ, दिल्ली में रहकर भी टेम्स तथा वोल्गा का पानी पीने वाला। ऐसा मानव मैं नहीं हूँ। पर मैं नई विचार-धारा का प्रेमी अवश्य हूं, उसका सहर्ष स्वागत करता हूं। पर विद्रोह मेरे रक्त में है। अतः, शर्माजी तथा नलिन जी दोनों महाजनों के प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा के भाव हैं। परन्तु इनको लेकर **"महाजनो येन गतः स पंथा"** वाली मनोवृत्ति नहीं हो सकी। नलिन जी ने पुस्तकें लिखी अवश्य हैं, कविता की, कहानी की, एक व्यक्ति के शब्दों में "आलोचना के तो वे इधर आचार्य ही होते जा रहे थे" और ये पुस्तकें कम महत्वपूर्ण हैं भी नहीं। पर मुझे इनके ग्रंथों में कोई ऐसा नहीं मिला जो सर्वातिक्रांति हो, सर्वाभिभावी हो, जिसके तर्क तथा प्रतिभा का जादू विरोधियों के सिरपर भी चढ़कर बोले। शंकराचार्य को विस्मृत करना भौतिक पर चिन्तनशील जगत के लिए कठिन है। जब तक तात्त्विक जिज्ञासा की एक किरण भी भारतीय मानव के मस्तिष्क में बची रहेगी, शंकराचार्य वहां जीवित रहेंगे। पर मुझे ऐसा लगता है कि यदि हम अभी ही संभले नहीं तो लोगों को शर्मा जी को तथा नलिन जी को भूलते देर नहीं लगेगी। इन लोगों की रचनाओं का, इनके कृतित्व का, इनकी विचारधारा की सूक्ष्मता से अध्ययन होना चाहिए। मैं समझता हूं कि इतने शोध-विद्यार्थी पी-एच० डी० के लिए अनुसंधान करते हैं। कोई शोध-विद्यार्थी "भारतीय दर्शन को शर्मा जी की देन" ऐसा कोई विषय अपने अनुसंधान के लिए क्यों नहीं लेता ?

मेरी बातें कुछ विचित्र-सी, बेतुकी-सी, असंगत-सी, अशोभनीय-सी लगती हैं न। अरे जहां एक स्वर से और तारस्वरेण प्रशस्तिगान की धूम मची हो, वहां पर दबी जुबान से सही एक हल्के-से "नोट आफ डीसेन्ट" को भला कौन पसन्द करेगा ? और सो भी एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा जो उनका आत्मीय हो, परिवार का हो, पुत्र तथा भाई का स्थानापन्न हो। पर मैं क्या करूं। मैं विवश हूं। आपको याद होगा कि मैंने अपने लड़कपन में ही पं० धर्मराज ओझा जी से प्रश्न किया था कि मेरे परिवार की इतनी प्रतिष्ठा क्यों है ? मुझे इसका कोई उचित आधार नहीं मिलता। प्रकारान्तर से वही बात तो यहां भी कर रहा हूं। यदि आप इस प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पहलू को देखें तो पता चलेगा कि मैं अपने से प्रश्न कर रहा हूं कि मुझे इतनी प्रतिष्ठा क्यों मिलती है ? यह भी नहीं कह सकता कि मुझे प्रतिष्ठा मिलती भी है या केवल यह मेरी कल्पना ही है कि मुझे प्रतिष्ठा मिलती है परन्तु एक बात तो सही है। जिन लोगों ने मेरी पदोन्नति में बाधा पहुंचाई है, और जिनके हाथ में मेरे

भौतिक भाग्य से खिलवाड़ करने की शक्ति थी, जो लोग मुझ से कृपाओं की भीख मांगकर ले गये और आज मेरे भाग्य पर निर्णय देने तथा कृपा करने की परिस्थिति में हैं वे लोग भी सदा यही कहते रहे कि "योर स्कोलरशिप इज नाट इन डाउट" कल ! (१३-४-६६) को विश्वविद्यालय में एक अधिकारी यह कहते पाये गये, "आपकी बड़ी ख्याति है।" जो हो मैं वधिरता के कारण अप्रतिष्ठ होऊं पर विद्वत्ता के कारण प्रतिष्ठ अवश्य होता हूं। पर मन में सदा यह प्रश्न बना ही रहता है कि ऐसा क्यों होता है। सारी दुनिया भ्रम में क्यों रहती है ? क्या किसी ऐसे ग्रन्थ की रचना मेरे द्वारा हुई है जिसकी विकल वेदना को लेकर मेरा चैतन्य विश्व को ललकारे। मुझे इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता।

अतः, निष्कर्ष यही निकला है कि शर्मा जी या नलिन जी या अन्य कोई जी जिसको लेकर मेरे मन में इस तरह की जिज्ञासायें चक्कर काटती रहती हैं वह अन्य कोई व्यक्ति नहीं है, मैं स्वयं हूं। मैं अपने को, मन की 'डिस्पलेस-मेंट' नामक गुप्त क्रिया के द्वारा, इन व्यक्तियों पर आरोपित कर लेता हूं और अपनी ही आलोचना-प्रत्यालोचना करता रहता हूं। कभी निन्दा करता हूं, तो कभी प्रशंसा भी करता हूं, दो पंक्तियों में कभी डांटता हूं तो कभी पुचकारता भी हूं। **"हम अपने दिल के मालिक हैं, कभी आबाद करते हैं, कभी बरबाद करते हैं।"** चाहे मैं कुछ भी करता होऊं, इनकी, उनकी बातें करता होऊं पर जिसे आज आबाद करता हूं और कल बरबाद करता हूं वह मेरा ही दिल है। मैं "फ्रेडियन एमरी मैन" हूं, "न्यूरोटिक" हूं जो अपने अदृश्य से उतना नहीं जितना बाल्यवध्यता (चाइल्डहुड फिक्सन) का शिकार रहता है। (स्ट्रगलिंग नोट सो मच विथ दी फेट ऐज विथ चाइल्डहुड फिक्सेसन)। वास्तव में हमारे भारतीय दर्शन में जो स्थान अदृष्ट का, फेट का, नियति का है वही स्थान मनोविश्लेषण में शैशवकालीन परिस्थिति-जन्य बद्धता का है। पहले हम भाग्य के विरुद्ध लड़ते थे, अब शैशवकालीनवद्धता "एडीपस कौम्पलैक्स" से युद्ध करते हैं। भाग्य, अदृष्ट मनुष्य के जन्म के पूर्व ही निश्चित हो आता है, हम उसे हस्तरेखाओं में अथवा ललाट लिपि लिखाकर आते हैं, **लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं को समर्थः** पर अब वह भाग्य लिपि जन्म के बाद जीवन के प्रथम कुछ वर्षों में अलेप्य रूप में लिखी जाती है पर अदृष्ट में तथा "एडीपस कौम्पलैक्स" में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। दोनों ही अगम्य हैं। अवाध्य हैं, बुद्धि के परे हैं। हां, पूर्व जन्म की ऊँचाई से उतारकर उसे इस जीवन के प्रारंभिक धरातल पर तो बैठाने से कुछ आधुनिक मानव के लिये यह अधिक ग्राह्य हो जाता है।

खैर, यह तो न जाने कौन-सी लहर आई कि मैं मनोवैज्ञानिक पहलू ले बैठा। कहां मैं अपनी जवानी की कहानी कहने चला था। पुत्र जब जवान

होता है तो पिता का भाई, उसकी दाहिनी भुजा बन जाता है, जीवन के हर संघर्ष में बराबर हाथ बटाने वाला। पर मेरी यह दीवानी जवानी पिताजी के लिये बड़ी महंगी पड़ रही थी। भाई की पढ़ाई को जारी रखना अत्यन्त आवश्यक था। यदि उसे स्थगित कर दिया जाय तो उस बालक का भविष्य बिगड़े ही। साथ में लोगों के कटु व्यंग-बाणों का भी आखेट होना पड़े कि जरा-सा इन्स्पेक्टर साहब ने हाथ खींच लिया कि यह हालत हो गई। यह परिस्थिति असह्य थी। पिता जी के लिये भी और मेरे लिये भी। मैंने एक श्लोक पढ़ा था :

वरं बनं व्याघ्र गजादि सेवितं,...
न बंधुमध्ये धनहीन जीवितम्

हम लोगों का आम का एक बगीचा था। आम फले हुए थे। और अपने ही खाने के लिये वे रखे जाते थे। मेरे गांव तथा मेरी बिरादरी के अन्य लोग आमों को बेचते भी थे पर मेरा परिवार जरा प्रतिष्ठित था, आमों को बेचना जरा अच्छा नहीं समझा जाता था। हालांकि उन्हें बेचना समाज के द्वारा अमान्य नहीं था, अपकर्म नहीं समझा जाता था। पिता जी रोज उन्हें बेचते थे और जो पैसे आते थे वे मेरे भाई अवधराज को आरा खर्च के लिये भेजे जाते थे। अंग्रेजी में एक मुहावरा है, **"लिविंग फ्रोम हैन्ड टू माउथ"** इसके लिये मेरे परिवार के तत्कालीन जीवन से अच्छा दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता।

एक और उदाहरण दूं। मेरा विवाह हो गया था। कैसे हुआ और किन परिस्थितियों में हुआ यह कहानी यथावसर आयेगी ही। मैं पटने में अपनी मातृतुल्या स्नेह-मयी सास के साथ रहने लगा था और पुनः पढ़ाई प्रारंभ की थी। यद्यपि अन्दर से मेरे परिवार की आर्थिक दशा बड़ी ही दयनीय तथा विपन्न हो गई थी पर ऊपर से सम्पन्नता का आतंक तो था ही। लोग यही समझते रहे कि हम लोगों का एक सम्पन्न आर्थिक परिवार है। मेरी सास के पास एक गाय थी। शहर का मामला ठहरा। उसकी सेवा करने तथा खाद्य सामग्री जुटाने में उन्हें कठिनाई होती थी जो नगरों में होना स्वाभाविक है। वे चाहती थीं कि वह गाय मुझे दे दी जाय। मैं उसे अपने घर ले जाऊं। मैंने उसे स्वीकार भी लिया था। जब यह प्रस्ताव मैंने पिता जी के पास रखा तो वे बड़े धर्म-संकट में पड़े। साधारणतः यह बड़ा ही लाभकर सौदा था। द्वार पर एक गाय बंधी रहने की कल्पना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ करता है। प्रेमचन्द के होरी इसी कल्पना को लेते हुए दुनिया से विदा हो गये। सो यह कल्पना बिना मांगे अनायास ही छप्पर फाड़कर साकार होने वाली थी। पर पिता जी के सामने यह समस्या थी कि जब गाय आयेगी तो उसके लिये चारा कहां से जुटाया जाय। अतः वे इस प्रस्ताव को बड़े ही ग्रेसफुली टाल गये।

मुझे यह बात बुरी लगी। पर करता ही क्या ? पर अपने परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा करने का दूसरा उपाय नहीं था। और मैं अपने परिवार की प्रतिष्ठा पर किसी भी तरह आंच आने देना नहीं चाहता था। यह अवश्य है कि मैं नवयुवक था। नवयुवक वह जो ईमानदार हो, असत्य तथा दांभिक प्रदर्शन में विश्वास न करे, सत्य का उपासक हो, सड़ी-गली रूढ़ियों का परित्याग करके चले जो एक शब्द में अपने अन्दर विद्रोह की चिनगारी लिए चले। जहां कूड़ा-करकट दीखे उसे वह जला दे। जहां नक्शे कुहन देखे, उसे मिटा दे। समाज की निन्दा-स्तुति की परवाह न करे। पर ऐसा लगता है कि मैं ऊपर से भले ही ऐसी चारित्रिक दृढ़ता का दंभ भरता होऊं पर अन्दर से मुझ में वह शक्ति नहीं आई थी। यही कारण था कि जहां कहीं संकट का समय आता था, ऐसे संकट का समय आता था जिस समय मनुष्य के सच्चे जौहर की परीक्षा होती है मैं कचक जाता था। भगवतीचरण वर्मा का एक उपन्यास है **टेढ़े-मेढ़े रास्ते**। उसमें एक क्रान्तिकारी पात्र है उमानाथ। उसका आपरेशन हो रहा है। जिस समय आपरेशन होता है वह दर्द से कराह उठता है। पाठक के मन में यह प्रश्न उठता है कि शल्य-क्रिया के समय दर्द होता ही है, उसके दर्द से कराह उठना सहज स्वाभाविक बात है। इस लम्बी वार्ता के उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी। सच पूछिए तो मैंने जैसे ही यह बात पढ़ी वैसे ही मेरा माथा ठनका और मैंने समझ लिया कि किसी भी महान संकट के समय वह व्यक्ति स्थिर न रह सकेगा, टिक न सकेगा, इसके पैर डगमगाने लगेंगे और यही बात होती भी है। संस्कृत में एक श्लोक है,

उदेति सविता ताम्रः ताम्रः अस्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

अर्थात् उदयकाल में सूरज लाल रहता है, अस्तकाल में भी लाल ही रहता है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनों समयों में महान् आत्माएँ एक रूप रहती हैं। विद्रोही का यही उद्देश्य मेरे सामने था। मैं इसका नाटक करता भी था। पर स्पष्ट देखता था कि यह बात मुझ से हो नहीं रही है।

यही लीजिए न। मैं २६ जनवरी के स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर शासन विरोधी अराजक भाषण देने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। यहां तक तो ठीक। प्रियं प्रियं नः। बहुत दिनों की मुराद हासिल हुई। मन में बड़ी आत्मग्लानि, आधुनिक शब्दावली में हीनता ग्रंथि "इनफीरियरिटी कौम्पलैक्स" रहती थी कि हाय रे सब साथियों को कृष्ण-जन्म स्थान मतलब जेल जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैं हूं ऐसा अभागा कि यहीं नरक में सड़ रहा हूं। इतनी तपस्या और साधना के बावजूद भी कृष्ण जन्म-स्थान के पुण्य दर्शन लाभ से वंचित हूं। कृष्ण जन्म स्थान का अर्थ कारा-गृह। यह तो स्पष्ट ही है

क्योंकि कृष्ण का जन्म कंस के कारागृह में ही हुआ था। क्या आपको यह शब्द सुनकर और उसका अर्थ जानकर सूर या कबीर के उन पदों की याद नहीं आती—**लंका सुत के जे लघु भ्राता तासु प्रिया नहीं आवत** अर्थात् नींद नहीं आती। कृष्ण जन्म स्थान कारागृह और "लंकासुत के जे लघु भ्राता" कुँभकर्ण तासु प्रिया—नींद—ये दोनों समान जातीय पदार्थ हैं। "वक्रोक्तिकाव्यस्य जीवितम्" वाली उक्ति से किसी को मतभेद हो तो हो और इससे मेरा भी मतभेद नहीं है सो बात नहीं। पर इसलिए नहीं कि यह अतिव्याप्त है, जैसा अन्य लोग कहते हैं, पर इसलिए कि यह अव्याप्त है।

वक्रोक्ति को काव्य तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। दो बातों की आवश्यकता है। या तो कहिए "वक्रोक्ति जीवस्य जीवितम्" अथवा "काव्य" शब्द में ही इतना अर्थ मानिए कि वह जीव का पर्यायवाची शब्द हो जाय। मेरी समझ में नहीं आ सकता कि कोई उक्ति सिवा वक्र के और कुछ हो ही कैसे सकती है? उक्ति है तो वह वक्र होगी ही। सीधी उक्ति यह वदतो व्याघात का उदाहरण होगा। सेल्फ कोन्ट्राडिक्सन होगा। यदि **वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः।** तो जहां पर "सीधी उक्ति" का प्रयोग होगा वहां पर वाक्यत्व की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। शुक्ल जी ने कह दिया कि **"नैन नचाय कहे मुस्काय लला फिर अइयो खेलन होरी"** यह सीधी सादी उक्ति है तो इस पर डा० नगेन्द्र ने आश्चर्य मुद्रा बनाय कहा, **"आश्चर्य है शुक्ल जी ने इसे सीधी उक्ति कैसे मान लिया। इसकी कैफियत तो उस लली से पूछिए जिसने नैन नचाय मुसकाय कहा था कि 'लला फिर अइयो खेलन होरी'।** मैं एक पग आगे बढ़कर कहूंगा कि पद्माकर ही की उक्ति क्यों? उक्ति मात्र, मेरी, आपकी, डा० नगेन्द्र की, सबकी ही वक्रोक्ति है। जिस ने कहा था कि मनुष्य जन्मना कवि होता है (मैन इज ए बोर्न पोइट) उसने कोई झूठी बात थोड़े ही कही थी। जब जेल को कृष्ण-जन्म स्थान कहा गया तो वह किसी कवि की दी हुई उक्ति थोड़े थी। उसे जनमानस ने दिया था। भले ही कोई निमित्त मात्र बन जाय। इसीलिए यह ग्राह्य भी हो गया। नहीं तो कवि लोग जोर मारते ही रहते हैं कि कोई शब्द चले पर वह टस से मस नहीं होता था। एक बार कुछ कवियों ने मतलब किसी विश्वविद्यालय के सिंडिकेट के सदस्यों ने मिलकर जवाहरलाल को डाक्टर कहना चाहा था पर वह चल सका? क्या किसी ने उन्हें डाक्टर जवाहरलाल कहा? सभी तो उन्हें पंडित जी कहते रहे।

अतः मैं कृष्णजन्म स्थान दर्शन के लिए उत्सुक था। न जाने कितने स्वयंसेवक जिन्हें मैंने भर्ती किया था वे कारागृह चले गए और मैं यों ही रह गया। कहा न, मुझे इस बात की बड़ी ललक थी। तिस पर इधर राजनीतिक

वातावरण में परिवर्तन हो रहा था। तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन से समझौते की बातचीत होने की चर्चा चल रही थी। श्री जयकर तथा सप्रू जैसे राजनीतिज्ञ बीच में पड़कर समझौते का प्रयास कर रहे थे। ऐसा लग रहा था कि समझौता हो जाएगा और मैं देश-सेवा के बहुत बड़े पुण्य-प्रसाद से वंचित रह जाऊंगा। पर भगवान ने मेरी प्रार्थना सुनी और एक सुहावने प्रातः को शिविर के कुछ स्वयंसेवकों ने आकर सूचना दी कि सब-इंस्पेक्टर (मैं उनका नाम भूल रहा हूं। वे थे ब्राह्मण ही और मेरे दादा जी से परिचित) कुछ पुलिस कान्स्टेबुल के साथ इधर आ रहे हैं। कोई आपत्तिजनक कागजात वगैरह हों तो वे हटा दिए जाएं या नष्ट कर दिए जाएं। एक तो गाँधी जी की खुली लड़ाई, उसमें किसी आपत्तिजनक बात की गुंजाइश ही क्या? दूसरी बात यह कि स्वतन्त्रता दिवस को हुए करीब एक सप्ताह हो गया है। यदि गिरफ्तारी की बात होती तो अब तक हो गई होती। अब कैसी धर-पकड़। पर जब उस दल ने शिविर के फाटक के अन्दर प्रवेश किया तो बात पक्की हो गई। वह मनोवांछित घड़ी आ गई जिसकी प्रतीक्षा थी।

और मैं गिरफ्तार था। और एक बात कहूं। पुलिस का व्यवहार हम कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के साथ बड़ा ही कोमल, आदरपूर्ण तथा सदय रहता था। वे गिरफ्तार तो करने आते थे पर ऐसा लगता था कि वे स्वयं अपराधी हैं, झुके रहते थे, नम्र रहते थे, आत्मग्लानि से मरे जाते थे। उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दी कि मैं स्नानादि नैतिक कामों से निवृत्त हो लूं। भोजन वगैरह भी निश्चिन्त हो कर लूं। उन्हें कोई जल्दी नहीं। मैं यथाशीघ्र ही तैयार हो गया। और पुलिस की निगरानी में जेल-यात्रा के लिए तांगे पर सवार हुआ। सवार तो हुआ प्रसन्नता से ही पर एक बात का दुःख रहा। मेरी गिरफ्तारी बहुत ही शान्त वातावरण में हुई। जनता को कानोंकान खबर न हो सकी नहीं तो बात की बात में जनता का बृहद जुलूस एकत्र हो जाता था। पर यह सब कुछ नहीं हो सका। और मैं चला जेल। हां, शिविर के साथियों ने बड़े भाव तथा स्नेह से विदा दी। जल्दी में कहीं से एक माला लाकर पहना दी।

मैं जेल में आ गया। जेल में भी मित्र थे। उन्होंने हृदय खोल कर स्वागत किया। मैं तो आ गया जेल पर कहा न कि मैं पूर्ण साहसी तो कभी नहीं रहा। अभी सजा तो हुई नहीं थी। मेरा केस विचाराधीन था। हम अण्डर ट्रायल प्रिजनर थे। अब मुझे चिन्ता इस बात की सताने लगी कि गिरफ्तार हो गया कोई परवाह नहीं। वह मैं तो चाहता ही था। पर 'सी' श्रेणी में न रहूं। कम-से-कम 'बी' श्रेणी मिले क्योंकि 'बी' श्रेणी मिलने से लोगों के बीच प्रतिष्ठा बढ़ती ही है, अपने अहं भाव की भी तुष्टि होती है। तिस पर भी मेरे स्कूल के दिनों में एक साथी थे पं० भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'। हर बात

में उनसे प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिद्वन्द्विता रहती थी। वे अपनी सजा की अवधि काट कर बाहर आ गए थे। उनको 'बी' श्रेणी मिली थी। मुझे भी 'बी' श्रेणी मिलनी चाहिए—ऐसी ही कुछ मनोवृत्ति काम कर रही थी। क्या हुआ यदि वे एम० ए० पास कर गए हैं। मैं भी परीक्षा में बैठा होता तो पास कर ही गया होता। यह तो संयोग की बात है कि आन्दोलन प्रारम्भ होने से पूर्व ही उनकी परीक्षा समाप्त हो गई।

अब प्रश्न यह हुआ कि उसके लिए किससे कहा जाय। सबसे उपयुक्त व्यक्ति तो दादा जी ही हो सकते थे। वे अवकाश-प्राप्त इन्स्पेक्टर आफ पुलिस थे। यहां के जितने भी पुलिस कर्मचारी थे और जिनके अधिकार में मुझे 'बी' श्रेणी देने की बात थी वे सब उनके परिचित थे और उन पर श्रद्धा रखते थे। पर यह भी तय था कि वे यह अपकर्म अर्थात् 'बी' श्रेणी देने की सिफारिश कभी भी नहीं करेंगे। वे बड़े ही मनस्वी थे, न किसी की सिफारिश करते न किसी की सुनते थे। **"मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।"** मेरी दृष्टि पिताजी की ओर गई। वे जेल में भी कभी-कभी मिलने आते थे और जिस दिन मुकदमे की तारीख पड़ती थी उस दिन तो आते ही थे। मैंने उनसे कहा और जैसी मेरी कल्पना थी, उन्होंने इसे स्वीकार किया। बाद में किसी के मुख से सुना कि मेरे पिता जी ने सरकारी प्रोजेक्यूसन इन्स्पेक्टर आफ पुलिस से मेरे लिए कहा भी था जिस पर उसने उत्तर दिया था कि अब वे लड़के के लिए चिन्ता क्यों करते हैं। यह लड़का गया। अब हाथ आने वाला नहीं। पर 'श्रेणी' का प्रश्न ही नहीं उपस्थित हुआ। गांधी-इरविन पैक्ट हो गया और हम लोग जेल से बाहर आ गए।

खूब धूमधाम के साथ बाहर आया। जेल के फाटक पर अपार जुलूस एकत्र हो गया था। हम लोग बाजे-गाजे के साथ फूल-मालाओं से लदे लीडराना अदा के साथ कांग्रेस कार्यालय में उतरे। जेल जाते समय जो न्यूनता अखरी थी उसकी कमी पूरी हो गई। मैं घर गया। सब लोगों की ओर से वह स्वागत मिला जो हीरो का होता है। कम-से-कम किसी ने मेरे प्रति अनादर, अनिच्छा, निषेध के भाव प्रकट नहीं किये। बात यह थी कि जिस तरह तिलक ने हम भारतीयों के हृदय में स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है के भाव भर दिए थे उसी तरह आदर पाना हम देश-सेवकों का, मतलब जेल-यात्रियों का, जन्म-सिद्ध अधिकार है, इस तरह के भाव ने हमारे हृदय में स्थान कर लिया था। आदर पाना हम अपना अधिकार समझने लगे थे।

ऐसी ही मनोवृत्ति में मैं अपने घर गया। बड़े उत्साह से मैं दादा जी के चरण को छूने के लिए आगे बढ़ा। सच पूछिये तो मुझ में उस समय विजयो-ल्लास की भावना भी थी। जिस विदेशी शासन के वे इतने बड़े भक्त थे उसे

हमने पछाड़ दिया था इस तरह के भाव भी मन में सक्रिय थे। ज्यों ही मैंने उनके चरणों को स्पर्श करने के लिए हाथ बढ़ाया कि उन्होंने अपने चरण खींच लिए और कठोर स्वर में ही बोले—अलग रहो, मेरे चरण छूने की कोई जरूरत नहीं। यह छोटी-सी घटना मेरे हृदय में गोली-सी लगी और यदि मैं अगले ५-७ वर्षों तक उनके प्रति कटुता के भावों से भरा रहा, प्रतिज्ञा कर ली कि कभी भी उनके पैर नहीं छुऊंगा, उनकी परिछाईं को भी नहीं ताकूंगा, उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखूंगा, बल्कि उनके विपरीताचरण में ही संलग्न रहूंगा तो बहुत कुछ उत्तरदायित्व इस घटना को है। मेरा आज भी ख्याल है कि दादा जी को ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए था। क्रोध से, कटुता से, हिंसा से किसी को जीता नहीं जा सकता। हमारे सन्त ने जब यह कहा था कि "वशीकरण यह मंत्र है कि तजि दे वचन कठोर" तो उसके पीछे एक बहुत व्यापक अनुभव था। आज जब मैं दादा जी के व्यवहार की आलोचना कर रहा हूं और इस घटना से शिक्षा लेने का उपदेश दे रहा हूं, यह पांडित्य तो है पर परोपदेश नहीं है स्वोपदेश भी है।

अब मैं जेल से लौट आया हूं। जेल में तो दो-तीन महीने ही कटे पर वे जीवन की चिरस्मरणीय निधि हैं। यद्यपि भोजन इत्यादि का बड़ा कष्ट था, मेरा स्वास्थ्य भी वहां अच्छा नहीं था, मेरी पाचनशक्ति, उसी समय निर्बल हुई जो आज भी किसी तरह लगी ही चली आ रही है। कम्बलों में इतनी जुएं थीं कि बस रक्तदान महोत्सव की बात ही समझ लीजिये। उसी समय जो मुझे खुजली हुई वह वर्षों तक लगी रही और न जाने कितनी दवायें करनी पड़ीं। कुछ लोगों की कल्पना भी है कि आज जो बधिर हो गया हूं उसके मूल में खुजली ही है। खुजली के लिए तीव्र औषधियों का प्रयाग किया गया होगा जिसका परिणाम यह हुआ कि खुजली तो दूर हो गई पर उसका परिपार्श्विक प्रभाव (साइड इफैक्ट) बधिरत्व के रूप में सामने आया। मुझे यह कल्पना करने का अवसर इसलिए भी मिल रहा है कि श्री राजेन्द्र बाबू ने अपनी जीवनी में एक स्थान पर लिखा है कि वे जब कलकत्ते में थे तो बहुत भयंकर रूप से मलेरिया ज्वराक्रांत हुए। तब उन्हें ज्वर से मुक्त होने के लिये बृहद् माला में क्विनीन की गोलियां दवा के रूप में दी गई थीं। बाद में उन्हें श्वास रोग हो गया था। कुछ लोगों की राय थी कि यह श्वास रोग क्विनीन की गोलियों की अति-माला की प्रतिक्रिया थी।

मेरा विवाह

जवानी और विवाह इन दोनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैं यहां अपनी जवानी के दिनों की कथा कह रहा हूं अतः उसकी चर्चा कर देना भी आवश्यक

है। सिद्धान्ततः बात तो यही ठीक है कि जवान होने पर विवाह किया जाता है। पर व्यवहार में बात दूसरी ही थी। बाल्य-विवाह की प्रथा थी और बचपन में मतलब ८-१० वर्ष की अवस्था में ही विवाह हो जाता था। लेकिन नव-शिक्षित वर्ग में इस प्रथा के विरुद्ध विरोध के भाव भी जगने लगे थे और इन लोगों के मन में यह बात घर करने लगी थी कि इस प्रथा पर रोक लगनी चाहिए। मुख्य तर्क यही था कि इससे मनुष्य के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है तथा दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं होता। दो अनजाने प्राणी, जो एक दूसरे के स्वभाव से एकदम अपरिचित हैं, एक सूत्र में बांध दिये जाते हैं। यदि दोनों के स्वभाव में, विचारधारा में वैषम्य हुआ तो पारस्परिक कलह का तांडव आजीवन का दुर्भाग्य बन जाता था और इस बात के उदाहरण भी आये दिन मिल ही जाते थे। नाम किसका-किसका लिया जाय पर यह बात सही भी थी। प्रत्येक परिवार में पति-पत्नी के बीच केशाकेशि, मुष्ठामुष्ठि, हाथाहाथि के उदाहरण मिल ही जाते थे। पति डण्डों से पत्नी की पूजा कर रहा है और पत्नी पति को यम के पास, काली मैया के पास भेज रही है। पर कुछ लोग इसके विरुद्ध तर्क भी देते थे। इस तर्क का नमूना लीजिए। जब मेरा विवाह हो गया और मैं जीवन में प्रवेश कर गया, बाल-बच्चेदार हो गया तो एक मेरे बुजुर्ग सम्बन्धी ने कहा कि तुम लोग बाल्य-विवाह के विपक्ष में तथा आपस में कोर्ट-शिप के बाद विवाह के पक्ष में बड़ी-बड़ी दलीलें देते हो पर मेरी और ऐम्या (उनकी पत्नी को हम लोग यही कहकर पुकारते थे) की शादी तो बचपन में ही हो गई थी पर देखो हम लोगों का जीवन कितना शान्त तथा सुखमय है। दूसरी ओर अपनी बात देखो। कोर्टशिप के बाद ही तो प्रेम-विवाह हुआ था। और आज परिस्थिति यह है कि अभी एक ही बच्चा हुआ है और तुम लोग कुत्तों तथा बिल्लियों की तरह लड़ते हो।

खैर जो हो, इस तर्क से मैं आज भी पूर्ण रूप से आश्वस्त तो नहीं हूं पर अनुभव यही कर रहा है कि इसमें सत्यता का कुछ अंश भी है। कोरा बकवास नहीं। मेरे दो विवाह हुए। प्रथम, बचपन में ही नाति शिक्षित कन्या से। उसके साथ एक वर्ष या दो वर्ष रहने का सुयोग मिला कि उसका देहान्त हो गया। दूसरा विवाह हुआ २४ वर्ष की अवस्था में, एक बी. ए. पास, होस्टल में रहने वाली, अपटूडेट शिक्षित महिला से, नियमित कोर्टशिप तो नहीं पर उसे कोर्टशिप ही कह लीजिए। वह आज भी जीवित हैं। जीवन के सुख-दुख, धूप-छांह में हाथ बंटाती हैं। पर आज जब विगत जीवन पर विचार करता हूं तो दृढ़तापूर्वक नहीं कह सकता कि यदि मेरी पहली पत्नी जीवित रहती तो मैं उसके साथ अधिक सुखी नहीं होता। पर एक बात तो सही है। आज 'स्क्यूलरिज्म' के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म को निकाला जा रहा

है पर यदि हम दोनों के बीच धर्म का बन्धन नहीं होता, और मानवता नहीं बंधी होती तो मैंने पत्नी को १० बार Divorce किया होता और पत्नी ने मुझे २० बार।

तो मेरा प्रथम विवाह शाहपुर पट्टी, जिला शाहाबाद, बिहार के निवासी स्व० पंडित पारसनाथ त्रिपाठी जी की कन्या लीलावती देवी से हुआ था। उस विवाह की भी सारी बातें मुझे याद हैं क्योंकि मैं उस समय भी १६-१७ वर्ष का हो चला था। इतने दिनों तक एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार के किसी पुरुष के विवाह का टल जाना भी एक आश्चर्य की बात थी। इस आश्चर्य को संभव बनाने में मेरे पिता जी का हाथ था। मेरे पितामह तथा प्रपितामह इत्यादि एक पीढ़ी पूर्व के सदस्यों का तो बड़ा ही आग्रह था कि मेरा विवाह हो जाय। पर मेरे पिता जी कुछ प्रगतिशील थे, एडवान्सड थे उसी तरह जिस तरह मैं उनसे एक कदम आगे हूं और मेरा पुत्र मुझसे। अतः मेरे पिता जी बाल्य-विवाह के नाम पर मेरे विवाह का विरोध करते रहे और वह टलता रहा। पर बकरे की मां कब तक खैर मनाती। बुजुर्गों ने जब टैंक लेकर आक्रमण किया तो पिता जी की सेना हार गई और मेरा विवाह १९२३-२४ में होकर ही रहा।

उस विवाह की बात मुझे खूब याद है। बारात खूब सजधज से निकली थी। श्री राजेन्द्र बाबू भी आये थे। मैंने श्री राजेन्द्र बाबू ही कहा है क्योंकि वे तब राष्ट्रपति नहीं हुए थे और न डाक्टर ही। वे केवल राजेन्द्र बाबू ही थे। और सच पूछिए तो वे सदा राजेन्द्र बाबू ही बने रहे। राष्ट्रपति भवन उन पर कभी भी हावी नहीं हो सका। श्री पंडित देवदत्त त्रिपाठी, संस्कृत प्रोफेसर पटना कालेज, पटना तथा महोपाध्याय श्री रघुनन्दन त्रिपाठी का सम्मिलित होना तो सामाजिक कर्तव्य तथा शिष्टाचार की ओर से अनिवार्य था ही, इसकी चर्चा क्यों करूं।

इस अवसर पर मैं एक व्यक्ति श्री गयादत्त त्रिपाठी की याद किये बिना नहीं रह सकता। आज करीब ३०-३५ वर्षों से इनके बारे में कुछ सूचना नहीं मिली। मुझे यह भी पता नहीं कि ये जीवित हैं भी या नहीं। इनके सम्पर्क में आने का अधिक अवसर भी नहीं मिला था। पर एक बार ये मेरे भावात्मक जगत के साथी थे। अतः इस अवसर पर उनकी स्मृति अनायास उभर आई है। ये मेरे चचेरे मामा थे। उम्र में मुझसे दो-तीन वर्ष ही बड़े होंगे। एक बार मैं अपनी ननिहाल में अपनी मां के साथ गया था। न जाने क्या बात थी। मैं इनके साथ खेल रहा था कि खेल ही खेल, बात ही बात **'रिस बढ़ि आई।'** मैंने इनको खूब मारा। श्री गयादत्त जी मुझसे उम्र में भी बड़े थे, मजबूत भी थे। मुझसे बदला ले सकते थे। पर ऐसा किया नहीं। मुझे पकड़कर मेरी मां के पास ले गए और रोते हुए कहा कि देखो बहन, मैंने इनको इसीलिए नहीं मारा है कि

भागिनेय को, बहन के लड़के को मारने से आदमी के हाथ कांपने की बीमारी हो जाती है। हम लोगों से कहा गया था कि बहन के लड़के को मारने से आदमी के हाथ कांपने का रोग हो जाता है। आज मन में कल्पना होती है कि बचपन की वह निष्कलुष, पवित्र और स्वच्छन्द दुनिया कहां चली गई!! क्या उस दुनिया में लौट चलना सम्भव है। मनोवैज्ञानिकों ने एक शब्द निकाला "रिग्रेशन"। बहुत से लोग अपने बाल्यकाल में रिग्रेशन कर जाते हैं। मैं यह सोचता हूं कि यहां क्या बुरा है। भले ही लोग इसे मनोविकार की संज्ञा देते रहें।

श्री गयादत्त जी के पिता का नाम श्री सर्वानन्द त्रिपाठी था। ये तुतलाकर बोलते थे। मैं इस बात की चर्चा कर आया हूं कि उनकी तुतलाहट पर हम लोगों को कितना आनन्द आता था और किस तरह हम लोग जानबूझ कर भी इन्हें चिढ़ा देते थे कि इनकी मुद्रा में वक्रता तथा क्रोधावेश की डांट की बढ़ती तुतलाहट का मजा आये। ये वैद्य थे। बड़े मेधावी व्यक्ति थे और अपने चिकित्सा व्यवसाय से पर्याप्त द्रव्योंपार्जन कर लेते थे। कहा तो यही जाता था कि मेरे नाना महामहोपाध्याय श्री रघुनन्दन त्रिपाठी ने परिवार को अपने व्यक्तित्व से यशस्वी भले ही बनाया हो तथा शिक्षित समुदाय में वे आदर के भाजन भले ही रहे हों पर परिवार की आर्थिक स्थिति श्री सर्वानन्द जी के कारण ही दृढ़ थी। ये संस्कृत पंडित भी थे और इनकी विद्या अर्थकरी थी जिसके कारण अर्थागम का नैरन्तर्य बना रहता था। आज तो "अमृतांजन" का ज्ञान मामूली-सी बात है पर आज से आधी शताब्दी पूर्व जिस समय की बात कह रहा हूं बहुत कम लोगों को इसका परिचय था। पंडित सर्वानन्द जी अमृतांजन की डिबिया रखते थे और लोगों के ललाट पर जरा मल देते थे और सारा दर्द काफूर। ऐसे-ऐसे ही चमत्कारों का जन-मानस पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।

दुर्भाग्यवश इन्हीं सर्वानन्द जी का देहान्त थोड़ी ही उम्र में हो गया और न जाने क्या बात हुई कि वे अपनी सब सम्पत्ति का उत्तराधिकारी अपने पुत्र गयादत्त जी को बना गए। किन कारणों से ऐसा हो सका यह बात मुझे मालूम नहीं। आज कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों की कल्पना तो कर सकता हूं पर उस ऊहापोह में पड़ना नहीं चाहता। फिलहाल यह बात सबको आश्चर्यजनक अवश्य लगी। मैंने एक श्लोक पढ़ा था :

यौवनं धन-सम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

इसकी सत्यता स्पष्ट सामने आने लगी। श्री गयादत्त जी के यहां मनचले यारों की चौकड़ी जुटने लगी, गाने-बजाने तथा नाचने वालों का समाज जुटने लगा। घोड़े रखे गए। रईसी ठाठ-बाट, आनबान प्रारम्भ हुआ। लड़कियों से भी सम्पर्क बढ़ा। एक नाइन की लड़की थी, कहा जाता था कि वह गयादत्त की

प्रेयसी थी। मैंने उसे देखा था। स्मृति के सहारे कह सकता हूं कि वह अपूर्व सुन्दरी थी। इन्हीं लोगों की मण्डली में मैंने एक गीत सीखा था, "**काली चितवन के ताक-ताक मारे रे कटारी, अलबेला नुकीला जवान। आंखों में जादू, नैनों में टोना, नैना है जहरी दुकान। बाकी चितवन**.........गयादत्त के इस रवैये पर सभी दुखी थे पर कोई कुछ कर नहीं सकता था।

ये ही गयादत्त अपने पूरे समाज की सजधज के साथ मेरे प्रथम विवाह में सम्मिलित हुए थे जिनके कारण बारात की शोभा में चार चांद लग गए थे, रौनक बढ़ गई थी, खिलकत जम गया था। मुझे याद आता है कि यही एक अवसर था जिस समय लोगों ने गयादत्त जी की उपयोगिता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया था। मैं उनका प्यारा भागिनेय था, लड़कपन का साथी। मेरे विवाह में उन्होंने दिल खोलकर साथ दिया। यही कारण है कि गयादत्त जी की स्मृति इस समय जागृत हो गई। सच पूछिए तो मैं तथा मेरी तरह नवयुवक वर्ग गयादत्त जी के सब व्यवहारों तथा व्यापारों से सहानुभूति रखता था।

प्रथम विवाह के समय की एक और घटना याद आ रही है। विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ। अब तो हम लोग कुछ विचारों तथा व्यवहारों में प्रगति कर गए हैं, बहुत आगे बढ़ गए हैं, रूढ़ियों के व्यर्थ पालन में विश्वास नहीं करते पर उस समय बात ही दूसरी थी। पर्दाप्रथा थी। कन्यायें कठोर पर्दे में रहती थीं और कम से कम वरपक्ष वालों को तो उन्हें दिखाया ही नहीं जाता था। केवल कन्या के भाई को देखकर उसके सौंदर्य का अनुमान कर लिया जाता था। लोकोक्ति प्रचलित थी कि "**बाघ के ना देखल से दखले बिलाई। कनिया के ना देखल से देखले कनिया के भाई**" अर्थात् जिसने बाघ को नहीं देखा हो तो उसे बिल्ली को देख लेना चाहिए। जिसने कन्या को नहीं देखा हो तो उसे उसके भाई को देख लेना चाहिए। अतः जिस कन्या से मेरा विवाह सम्पन्न हुआ उसे किसी ने, मतलब मेरे परिवार के किसी व्यक्ति ने, देखा तो था नहीं, इन्टरव्यू तो लिया नहीं गया था। अतः किसी को उसके बारे में कुछ ज्ञान नहीं था। केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर कुछ कल्पना कर ली गई थी।

जब बारात विदा होने लगी तो मेरे गांव के एक सज्जन ने जिनका नाम श्री रामेश्वर उपाध्याय था मेरे पिताजी को एकान्त में बुलाकर कहा कि देखो, इस विवाह में तुम्हें बड़ा धोखा दिया गया है। लड़की के शरीर के किसी भाग में श्वेत कुष्ठ के दाग हैं। मेरे पिताजी पर तो मानो बिजली ही गिरी। कहा न कि मेरे ऊपर उन्होंने बहुत तमन्नायें बांध रखी थीं। वे समझते थे कि उन्होंने जीवन में कुछ नहीं किया पर उनका पुत्र उनके स्वप्नों का पुत्र होगा (अभी हाल ही में उनका एक पत्र आया है कि आई एम नाट ए मैन ऑफ मनी पोजीशन) और वे मुझ में ही जाकर "किंग मेकर" का जीवन व्यतीत करेंगे। ऐसा लगता है

कि उनके सारे स्वप्न चूर-चूर हो गए, मेरा जीवन तो चौपट हो ही गया। पर अब हो ही क्या सकता था ? कहावत है, **"भाइल बियाह अब करबह का"** अब तो विवाह हो गया, अब कर ही क्या सकते हो। जो बात हो गई उसे अन-हुई कैसे किया जा सकता है ? बस रोने लगे। मैंने उनको क्रुद्ध होते देखा है, उनके दयार्द्र और रौद्र रूप को भी बहुत बार देखा है। पर रोते हुए उनको तीन ही बार देखा है, अपने लघुभ्राता बलिराज की मृत्यु पर, मां के प्राण-प्रयाण समय पर, और इस अवसर पर जब कि मेरी पत्नी के सम्बन्ध में उन्हें प्रवाद मिला था। मैं इन सारे दृश्यों तथा हलचलों को देख रहा था पर कर ही क्या सकता था ? मेरे धर्मपिता पं० पारसनाथ जी त्रिपाठी तथा उनके बड़े भाई बद्रीनाथ जी त्रिपाठी बुलाये गए। किसी तरह पिता जी को आश्वस्त किया गया कि प्रवाद कुछ लोगों ने ईर्ष्या और द्वेष से प्रेरित होकर, विवाह की सफ-लता-जन्य-जलन को मिटाने के लिए उड़ा रखा है। मुझे पता नहीं कि इस शांतिवार्त्ता में, क्या-क्या हुआ, क्या-क्या तर्क-वितर्क उपस्थित किए गए, क्योंकि इस महत्त्वपूर्ण बैठक में तो सम्मिलित था नहीं। पर बाद में लोगों के मुंह से सुना कि मेरे धर्मपिता की ओर से कहा गया, कि विवाह होने के बाद तो लड़की जैसी मेरी, वैसी आपकी। आप उसे देख सकते हैं। बच्चा को स्वयं मुझे भेजकर दिखला लिया जा सकता है। यह सुनकर मनमें बड़ा अफसोस हुआ कि हाय रे ! इस शर्त को कार्यान्वित क्यों नहीं किया गया। मेरा एक बड़ा ही सुखद अवसर हाथ से जाता रहा। खैर किसी न किसी तरह पिता जी आश्वस्त हुए और बारात घर लौटी। नहीं तो पिता जी तुरन्त मेरी दूसरी शादी करने के लिए तैयार थे और इसमें कोई बाधा भी नहीं थी।

बाद में जब पत्नी घर आई और उसके साथ कुछ दिन रहने का अवसर मिला तो पता चला कि यह प्रवाद सरासर झूठा था, इसमें जरा भी सच्चाई का अंश नहीं था। पर यह प्रवाद उड़ा क्यों ? इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या है ? अचेतन मनोवैज्ञानिक की क्या बात कही जाय। इडिपस कम्प्लेक्स जो पिता और पुत्र के बीच होने वाले सारे व्यापार का सूत्रधार है उसका भी सहारा लिया जा सकता है और इस तरह निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि जिन लोगों ने इस प्रवाद का प्रचार किया है वे पितृ-स्थानापन्न थे और मनो-वैज्ञानिक पिता लोग जिस तरह पुत्र और मां के प्रणय में बाधक सिद्ध होते हैं उसी तरह का अचेतन व्यापार यहां पर भी सक्रिय था। ऐसा कहने का अवसर यों उपस्थित हो जाता है कि आज तक कभी भी किसी का विवाह सकुशल सम्पन्न नहीं हो सका है। साहित्य, इतिहास और पुराण इस बात के प्रमाण हैं। राम-सीता का विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ ? परशुराम तो वहां आ ही धमके। यह बात दूसरी है कि तुलसी के परशुराम भांवरे पड़ने के पहले आये और

वाल्मीकि के परशुराम अयोध्या के मार्ग में जबकि बारात लौट रही थी। बस समझ लीजिए कि मेरे विवाह का यह विचित्र उपसंहार वाल्मीकि का परशुरामावतार है जो स्वयं पिता-पुत्र में निरंतर चलते रहने वाले मनोवैज्ञानिक संघर्ष का पिण्डीभूत रूप है। कृष्ण, रुक्मणी, नल-दमयन्ती, पृथ्वीराज-संयोगिता, कहां तक नाम गिनाया जाय। देश-विदेश में जितने भी विवाह सम्पन्न हुए हैं उन सबों में इस तरह की घटना घटी है। तब मेरा विवाह भी इसका अपवाद क्यों कर होता? हां, यह बात दूसरी है कि किसी कारलाइल, बिल्हण या वाल्मीकि ने इसे अपने हाथ में नहीं लिया हो और इसे अपनी लेखनी का प्रसाद नहीं दिया हो। इसीलिए यह ऐतिहासिक या साहित्यिक तथ्य का रूप नहीं धारण कर सका हो। नहीं तो इसमें किस बात की कमी थी। श्री राजेन्द्रप्रसाद, महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी, पं० देवदत्त त्रिपाठी और भी बहुत से लोग जिनको लेकर इतिहास बनता है वे सब उपस्थित थे। कन्या स्वयं पं० पारसनाथ त्रिपाठी की पुत्री थी। त्रिपाठी जी बिहार में साहित्यिक जागरण के अग्रदूत थे—मैंने स्वयं राजा राधिकारमण प्रसाद जी को कहते हुए सुना है कि उन्हें साहित्य के क्षेत्र में लाने का श्रेय त्रिपाठी जी को है। त्रिपाठी जी की मृत्यु मोटर-दुर्घटना से—जिस मोटर में श्री अनुग्रहनारायण सिंह जी भी थे और जिन्हें चोट आई थी—बिहार साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हुई—ये सब "पोटेन्टीअल" ऐतिहासिक तथ्य हैं जो किसी सहृदय प्रतिभा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज तो मैं इसी कल्पना में मग्न हूं कि मैं और कुछ नहीं करता होऊं पर राजस्थान में यहां बैठा-बैठा बिहार की याद तो कर रहा हूं, अपने पुराने दिनों की ओर हसरत की निगाह से देख तो रहा हूं और इतिहास के लिए कच्ची सामिग्री दे रहा हूं।

न जाने किस प्रेरणा से मैं अपने प्रथम विवाह की चर्चा करते परशुरामावतार रूपक ले बैठा हूं और यह विचित्र संयोग है कि यह रूपक मेरे द्वितीय विवाह के संदर्भ में भी ठीक बैठता है। प्रथम विवाह के अवसर पर परशुरामावतार अर्थात् विघ्न-बाधायें विवाहोपरान्त आई थीं अर्थात् जब बारात अयोध्या गांव को लौट रही थी। यह वाल्मीकि का परशुरामावतार था। पर द्वितीय विवाह के समय जो परशुराम अवतरित हुए (अर्थात् विघ्न-बाधायें सामने आईं) वह तुलसी के अधिक समीप थीं। बल्कि मेरे कहने की यह इच्छा हो रही है कि मेरे द्वितीय विवाह के परशुराम तुलसी के परशुराम से भी कुछ आगे बढ़े हुए प्रगतिशील थे। आप ध्यान से तुलना करें और कथन की सत्यता की जांच करें। वाल्मीकि ने परशुराम को विवाहोपरान्त भेजा। तुलसी ने ठीक विवाह के अव्यवहित पूर्व जिस समय सारी तैयारी हो चुकी थी, धनुष टूट चुका था, बात इतनी आगे बढ़ गई थी कि पीछे हटना संभव नहीं था। पर मेरे विवाह

का विरोध मेरे विवाह की चर्चा-प्रारंभ से ही अथवा उसके बहुत पहले से ही प्रारंभ हो गया था। वास्तव में ये दो विचारधाराओं का विरोध था। रूढ़ि और प्रगति का संघर्ष था।

मैं ऊपर की पंक्तियों में अपने पितामह तथा परिवार के अधिनायक "डिक्टेटर" श्री शिवनन्दन उपाध्याय का उल्लेख कर आया हूं। कह चुका हूं कि वे पक्के सनातनधर्मी थे। उनमें अंध रूढ़िवादिता थी वह बात तो कही नहीं जा सकती। उन्होंने बहुत-सी अनर्गल प्रथाओं का विरोध भी किया था। पर थे वे सनातनधर्मी ही, एकदम कट्टर, जो बात मन में जंच गई उससे कभी भी हटने वाले नहीं। उनका मेरे भावी धर्मपिता महामहोपाध्याय स्व० पं० रामावतार जी शर्मा से भयंकर सैद्धान्तिक विरोध था। शर्मा जी की विद्वत्ता, पाण्डित्य तथा दार्शनिक प्रतिभा के तो वे भी कायल थे, उसका लोहा मानते थे पर उनके आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि से उन्हें सख्त नफरत थी। एक विवाह समारोह में वे सम्मिलित हुए थे जहां पर शर्मा जी भी गए थे। वहां पर उन्होंने देखा कि शर्मा जी ने किसी शकलद्वीपी ब्राह्मण के हाथ से बनवाकर सबके सामने सब के विरोध के बावजूद भी कच्ची रसोई (चावल दाल) खाई। घृत पक्वान्न (पक्की रसोई) में तो कुछ छूट दी गई थी कि वह अछूतों को छोड़कर किसी भी हिन्दू के हाथ का बनाया ग्रहण किया जा सकता है। पर कच्ची रसोई का ग्रहण तो ब्राह्मणों तक ही सीमित था। ब्राह्मणों में भी सब नहीं कुछ ही। सो ऐसी परिस्थिति में शर्मा जी का यह धर्म-विरोधी तथा समाज-विरोधी आचरण मेरे पितामह तथा उनके समान विचार रखने वालों को बहुत खटका। कहा जाता था कि शर्मा जी नास्तिक भी थे। वेदों को भी अपौरुषेय नहीं मानते थे। स्वभाव के भी कुछ झक्की थे। इन सब बातों ने समवेत रूप से शर्मा विरोधी वातावरण की सृष्टि कर रखी थी। और इस विरोध का सर्व-सहज तथा सुलभ साधन था कि उनके लड़के-लड़कियों के शादी-विवाह में बाधा उपस्थित की जाय। यही कारण था कि शर्मा जी अपने जीवन काल में बड़ी कठिनता से अपनी एक ही कन्या का विवाह कर सके। अन्य कन्यायें भी विवाह योग्य हो चली थीं पर कोई योग्य वर शर्मा जी को मिल नहीं सका था। इस बात की शर्मा जी के मन पर बड़ी चोट थी। मेरी सास कहती थीं कि प्राण-प्रयाण के कुछ समय पहले शर्मा जी ने अपने परिवार के सब सदस्यों को बुलाया, विदा ली, अपनी विवाह योग्य कन्याओं से विशेषतः क्षमा मांगी कि वे अपने जीवन काल में उनका विवाह नहीं कर सके।

शर्मा जी को अपनी कन्याओं के विवाह में बाधा होते देखकर समाज की हृदय-हीन प्रतिशोध भावना पर कितना क्षोभ था और वे कितने कटुता से भर गए थे, इसका प्रमाण एक उदाहरण से मिल सकता है। मैंने यह बात संस्कृत

कालेज, मुजफ्फरपुर के प्रिंसिपल पं० धर्मराज ओझा के मुंह से सुनी थी। शर्मा जी के तीन पुत्र तो थे पर वे अभी छोटे थे। विवाह-वयः प्राप्त न थे। पर उनके छोटे भाइयों के बहुत से पुत्र थे और वे वयः प्राप्त हो रहे थे। शर्मा जी, परिहास परिजल्पित रूप में ही सही, कहा करते थे कि मेरी पुत्रियां अविवाहित भले ही रहें पर मैं तीन काम करूंगा (१) २५) देकर एक खूब बलिष्ठ नौकर रखूंगा। (२) २) रु० का एक बड़ा-सा मजबूत झाड़ू खरीदूंगा, (३) एक टीन में भर कर अलकतरे (कोलतार) का तेल भरकर रखूंगा। अब कोई मेरे भ्रातुष्पुत्रों से अपनी कन्याओं का विवाह प्रस्ताव लेकर आयेगा तो मैं उस नौकर से कहूंगा कि वह पहले उस व्यक्ति के मुख पर अलकतरे के तेल में बुझाए हुए झाड़ू से दस बार मारे तब वह व्यक्ति मुझसे विवाह सम्बन्धी समस्या पर बातें करे।

यह बात आज सुनने में बड़ी कड़वी, चकनाचूर कर देने वाली मालूम पड़ती है। ऐसा लगता है कि इस तरह की बात कहने वाला अत्यन्त ही पाषाण-हृदय, वज्र-कठोर प्रतिहिंसाभावापन्न होगा। पर यदि हम थोड़ी-सी कल्पना से काम लें, अपने को अर्द्ध-शताब्दी पूर्व की परिस्थिति में रखकर भुक्त-भोगी पिता की दृष्टि से देखें तो इसका डंक बहुत कुछ दूर होगा और हम में शर्मा जी के प्रति समव्यथित्व के भाव जगेंगे। आज भी वयः-प्राप्त कन्याओं का अविवाहित रहना अभिशाप समझा जाता है। हां, कुछ प्रगतिशील, सम्पन्न, शिक्षित परिवारों में इस बात को सहन किया जा सकता है, पसंद तो आज भी नहीं किया जाता। अभी एक-दो वर्ष पहले की बात कह रहा हूं। मेरे परिवार में एक एम० ए० में पढ़ने वाली कन्या २२-२३ वर्ष की अवस्था की हो गई। शिक्षिता तो हो गई, पर ब्राह्मण समाज में इसके लिए योग्य वर कहां मिले। किसी में एक कमी है तो किसी में दूसरी। बस इसी उधेड़बुन में समय निकलता गया। अन्त में मेरे वृद्ध पिता जी ने अंतिमेत्थम् (अल्टीमेटम) दे ही दिया कि यदि इस साल इस लड़की की शादी नहीं हुई तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊंगा। यदि आज की कथा यह है तो उस समय के पिता की मनोदशा की कल्पना की जा सकती है। आज की दृष्टि से शर्मा जी की बात कटु तथा दुःशील मालूम जरूर पड़ती है पर यदि हम में थोड़ी-सी कल्पना हो और हम अपने को उस युग में ले जाकर स्वयं शर्मा जी का स्थानापन्न बना सकें तो हमारे मन में उनके साथ समव्यथित्व की भावना उत्पन्न होगी और हमारा काठिन्य गलेगा। प्रथम तो यह कि यह बहुत कुछ परिहास विजल्पित था, परमार्थ-रूपेण ग्रहण करने के लिए। यदि हम साहित्यिक रस की दृष्टि से विचार करें तो रस के सारे अवयव—आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी, संचारी इत्यादि सब उपलब्ध हो जायेंगे। मैं स्वयं इनकी खोज न कर पाठकों की सहृदयता के लिए

छोड़ देता हूं। वे स्वयं इसे प्राप्त करें। अपने से प्राप्त की हुई वस्तु दूसरों के द्वारा दी हुई वस्तु से अधिक आनन्द-प्रदायिनी होती है।

द्वितीयतः, उस युग में, मुझे ऐसा लगता है, किसी के प्रति कटुता प्रदर्शित करने की यह व्यावहारिक परम्परागत शैली सी थी। इस शैली का अस्तित्व सिद्धों तक तो स्पष्ट ही मिलता है। शोध कार्य से कदाचित् इस प्रथा या शैली की प्राचीनता और भी अधिक सिद्ध हो सके। कण्हपा ने तो साफ ही कहा है कि "साखी करऊ जलन्धर पाये।" गुरु के नाम का साक्षी देना तो कबीर के लिए साधारण-सी बात है। मुझे याद है कि मेरे प्रपितामह स्व० रामकिंकर उपाध्याय जब किसी पर क्रोधित होते थे तो गुरु का शपथ लेते थे। वे मुझसे और मेरी बदमाशियों से बहुत नाराज रहते थे। मेरा विवाह (प्रथम) जब होने लगा तब उस समय मेरे उत्पात बहुत बढ़ गए थे और वे लोगों की उलाहनाओं से बड़े तंग थे। उन्होंने एक दिन तंग होकर और ऊबकर ऊर्ध्ववाहु होकर घोषणा की कि **"गुरु मारीं कि इनका विवाह में जाईं"** अर्थात् यदि इनके विवाह में सम्मिलित होऊं तो मैं गुरुहत्या के अपराध का भागी बनूं। लेकिन उनकी इन शपथों का कोई अर्थ नहीं था। लोग इन्हें कोई गंभीरता से लेते नहीं थे।

यही लीजिए न। कहा जाता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु विरजानन्द जी के यहां जब कोई शिष्य पढ़ने के लिए आता था, तो कहा जाता है, वे उससे कहते थे कि **"सिद्धान्त कौमुदी"** की पुस्तक रखी हुई है उस पर दस जूते लगाकर आवो तब तुम्हें शिष्य के रूप में ग्रहण करूंगा। आज यह बात कैसी भद्दी, अशोभनीय तथा अमानुषिक-सी मालूम पड़ती है। यदि कोई ऐसा आचरण आज करे तो उसे पागल कहा जाएगा पर उस समय इसे निष्ठा तथा चारित्रिक दृढ़ता का द्योतक समझा जाता था। विरजानन्द जी और शर्मा जी में करीब एक शताब्दी का अन्तर था। समय कुछ आगे बढ़ गया था। अतः इन दोनों के व्यवहारों में भी अन्तर था। विरजानन्द उसे कार्यान्वित भी करते थे, सिद्धान्त कौमुदी को उपानहाघात पीड़ित भी होना पड़ता था। पर शर्मा जी के यहां न तो नेपाली नौकर ही रखा गया, न झाड़ू खरीदी गई और न अपनी कन्या-पाणि-पीडन प्रस्तावक व्यक्तियों का उस अपूर्व ढंग से स्वागत ही हुआ।

शर्मा जी वदरिकार-बहिरेव मनोहर नहीं थे। नारिकेल-समाकार थे। ऊपर से तो कठोर और पहाड़, निर्मम पर अन्दर गंगा की निर्मल धारा। मुझे विवाह के पूर्व उनके दर्शनों का तथा वार्तालाप करने का अवसर मिला था। पर एक और दृष्टि से विचार करें तो शर्मा जी के प्रति हमें कोमल होना पड़ेगा। प्रत्येक युग में अपने भावों तथा विचारों के प्रकाशन करने की एक विशेष पद्धति होती है, शब्दावली भी बंधी होती है। मनुष्य के इच्छा-स्वातंत्र्य का नारा लगाने वाले

आज के अस्तित्ववादी भी इस बात से सहमत हैं कि मनुष्य किस युग में, किस कुल में, किस वातावरण में पैदा हुआ इसमें स्वतन्त्र नहीं है। वह इन सबों के प्रति अपने में किस तरह का प्रतिक्रिया तत्परत्व लाता है, उनका क्या बनाता है इसके लिए वह स्वतन्त्र है। यदि इस तरह 'एक्जीसटेनसिअल मेन' देखना हो तो शर्मा जी इसका बहुत सुन्दर उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। शर्मा जी ने परम्परापालक, रूढ़ि-पूजक ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया, उनका व्यक्तित्व इन सारे प्रतिबंधों से घिरा था पर इन प्रतिबंधों का जो कुछ बनाया वह उन्हीं जैसे महान पुरुषों का काम था। यह उन्हीं का कलेजा था जिसने समाज के प्रत्येक लांछन को सहन कर, अनेक तरह के चरित्र सम्बन्धी प्रवाद की परवाह न कर उन्होंने अपनी पुत्रियों को उच्च शिक्षा दी, अंग्रेजी पढ़ाई।

ऊपर मैंने "चरित्र संबंधी प्रवाद" शब्दों का प्रयोग किया या यों कहिए मुझ से हो गया है। यह बात शाहपुर के पंडित रामनगीना चौबे मेरे स्कूल और कालेज के निर्मल तथा उज्ज्वल दिनों के साथी के मुख से मैंने सुनी थी। चौबे जी से पंडित पारसनाथ त्रिपाठी ने यह बात कही थी। एक बार ऐसा हुआ कि त्रिपाठी जी पटना स्टेशन से उतरे और अपने निवास स्थान पर जाने लगे। राह में कुछ नवयुवती रूपवती बालाएं स्वच्छ वेषभूषा तथा आकर्षक परिधान में सुसज्जित स्टेशन की ओर जाती हुई दिखलाई पड़ीं। उस समय पटना में वेश्याएँ नहीं रहती थीं। उनके लिए पटना सिटी में एक मुहल्ला निश्चित था। पटना सिटी पटना स्टेशन से बहुत दूर था। अतः इन बालाओं को देखकर त्रिपाठी जी के मन में आश्चर्य हुआ, "अरे! ये सब यहां कैसे आ गईं!!" फिर दो-चार कदम कहिए आधे फरलांग जाने के बाद देखा कि शर्मा जी अपना डंडा लिए चले आ रहे हैं। तब त्रिपाठी जी के चित्त को समाधान हुआ और समस्या समझ में आई कि ये तो शर्मा जी की सुपुत्रियां हैं। आप यह ध्यान में रखें कि त्रिपाठी जी उस समय के उग्र प्रगतिशील व्यक्तियों में से थे। पर्दा प्रथा में विश्वास नहीं करते थे, पाटलिपुत्र जैसे प्रगतिशील साप्ताहिक के सम्पादक थे जिसके सम्पादकीय वक्तव्यों की प्रशंसा गांधीजी भी करते थे। जब त्रिपाठी जी के मन में इस तरह के विचार आ सकते हैं, उनकी कल्पना के पर इस तरह संकुचित थे तो ऐसी परिस्थिति में जनमानस की कल्पना में जो न वीभत्स चित्र सामने आए वही थोड़ा है।

शर्मा जी मनस्वी थे—वैसे मनस्वी जिनके सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने कहा है कि "**मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्य न तु गच्छति।**" इन्हीं शर्मा जी की द्वितीय कन्या से मेरे विवाह-सम्पन्न करने का विधान नियति की ओर से रचने की तैयारी हो रही थी। मैं एक बात कहूं। सच्ची बात। असत्य-भाषण नहीं कर रहा हूं। मैं अपने परिवार में अपने पिता जी तथा अन्य बहुत-से आगन्तुक

सज्जनों के द्वारा शर्मा जी के बारे में सुना करता था अनेक तरह की बातें। उनकी पुत्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं, मैट्रिक की परीक्षा में बैठ रही हैं तो मैं मन ही मन कल्पना करता था कि काश मेरा ऐसा सौभाग्य होता कि इनसे मेरा विवाह होता। एक बार यह भी अपने नाना जी से सुना कि शर्मा जी ऐसा चाह भी रहे हैं। पर मैं कर ही क्या सकता था। प्रेम-विवाह की प्रथा नहीं थी, साथ में मुझे अपनी पात्रता तथा योग्यता के प्रति स्वयं आश्वासन नहीं था। सच पूछिए तो यह हीनता-भावना आज भी लगी चली आ रही है। मेरा विवाह शर्मा जी के गोलोकवास के पश्चात् हुआ। यों शर्मा जी के जीवन-काल में ही इसकी चर्चा चल चुकी थी। उनका एक पत्र भी प्राप्त हो चुका था। उनसे एक-दो बार मिल भी चुका था। दबे स्वर में विवाह की बात छिड़ चुकी थी। पर उस समय मुझ पर वैराग्य छाया हुआ था और मैं अपनी प्रथम पत्नी के वियोग में विधुर जीवन व्यतीत करने का संकल्प भी कर चुका था। शायद शर्मा जी को यह बात किसी तरह मालूम हुई या मैंने ही उनसे दबी ज़बान से कही हो। वे मनस्वी तो थे ही। अतः उन्होंने, सम्भव है, मेरे रुख को देखकर यह प्रश्न आगे नहीं छेड़ा हो।

मैंने सुना था कि शर्मा जी की प्रथम पत्नी से उत्पन्न बड़ी कन्या का विवाह एक ऐसे नवयुवक से हुआ था जो बहुत होनहार नहीं था। बाद में मैंने उन्हें देखा भी था। हम लोग उन्हें "जिजिया" कहते थे। वे थे भी बड़े ऊटपटांग व्यक्ति। मैं और नलिन जी दोनों उन्हें खूब चिढ़ाते थे। शर्मा जी का उनसे असन्तुष्ट रहना स्वाभाविक था। कहा जाता है कि एक दिन शर्मा जी "जिजिया" की बे-सिर-पैर वाली हरकतों पर, उनकी अकर्मण्यता और निठल्लेपन पर बहुत बिगड़े और कहा कि "यदि तुम अपने में सुधार नहीं करते तो मैं अपनी कन्या का विवाह दूसरे से कर दूंगा।" इस तरह की घोषणा, उस युग में, वही कर सकता था जिसका कलेजा सवा हाथ का हो। अतः यदि मेरे जैसे छोटे छोकरे की हिमाकत पर उनकी मनस्विता ने अन्य मनस्कता धारण कर ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह भी सम्भव है कि उन्होंने मुझे कन्या के योग्य नहीं समझा हो।

मैं चला हूं अपनी बात कहने पर देखता हूं कि बात होती जाती है दूसरों की। पर मैं अकेला तो हूं नहीं। मेरे निर्माण में न जाने कितनी असंख्य शक्तियों ने काम किया है और कर रही हैं। और जब मैंने अतीत का चलचित्र खोला है तो क्या ये बारी-बारी से चित्रपट पर आने के लिए बेताब हो रही हैं और सच मानिए मैं बड़ी कठिनता से उन पर नियन्त्रण कर पा रहा हूं। नहीं तो क्या वे दिन भूलने के हैं जबकि सारी बातें तय हो जाने पर तिलक वगैरह के सारे रुपये तथा सामग्री लेकर मेरी चचेरी बहन 'कवल पतिया' के विवाह

के लिए हम लोग एक व्यक्ति के घर गए और उस भले आदमी ने थोड़े-से रुपये के लोभ में आकर सब को टका-सा जवाब देकर टरका दिया। हम लोग रात भर भूखे रहकर उसके दरवाजे से लौट आए। मैंने अपने बूढ़े दादा श्री रामनन्दन उपाध्याय को उसके पैरों पर इज्जत के नाम पर पगड़ी रखते देखा था। आज भी जब उसे याद करता हूं तो यही मन में होता है कि हाय रे 'एटम बम' मेरे पास क्यों नहीं।

मेरे विवह के सम्बंध की ही बात है और उस बात से मानव चरित्र अथवा सभ्य-संस्कृत तथा विद्याविनय-सम्पन्न कुछ विशिष्ट प्रकार के व्यक्तियों के चरित्र समझने में सहायता मिल सकती है। इसीलिए उसका उल्लेख कर देने की इच्छा हो रही है। पं० देवदत्त त्रिपाठी तथा पं० धर्मराज ओझा ये दोनों व्यक्ति पटना कालेज, पटना (बिहार) में संस्कृत के प्राध्यापक थे। ये लोग बड़े विद्वान् थे और समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। पं० देवदत्त जी मेरे पूज्य मामा ही थे। पं० धर्मराज जी से कोई सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं था पर वे आत्मीयता के वृत्त में ही आते थे। मेरे विवाह की चर्चा खूब जोरों में चल पड़ी थी। मैंने अपनी सम्मति दे दी थी। पर यह बात भी सही थी कि मेरे परिवार के वरिष्ठ सदस्यों के द्वारा इसका विरोध हो रहा था। मेरी सास की बड़ी इच्छा थी कि इसके लिए इन लोगों की सहमति प्राप्त हो तथा इनके आशीर्वाद के बीच यह शुभ-कर्म सम्पन्न हो। पहले तो उन्होंने एक बड़ा ही करुण पत्र लिखकर मेरे दादा जी (क्योंकि वे ही परिवार के मुखिया थे) की सेवा में स्व० शर्मा जी के भ्राता पं० रमाकान्त जी को भेजा। मैंने उस पत्र को पढ़ा था। आज अफसोस हो रहा है कि वह पत्र उपलब्ध नहीं है। नहीं तो वह ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु होता। पत्र बहुत ही अपीलिंग था। उसमें हर तरह से हृदय छूने का प्रयास किया था। मुझे उस पत्र की एक-दो पंक्तियां आज भी अच्छी तरह याद हैं। लिखा था कि "इस वैवाहिक सम्बन्ध की योजना स्व० शर्मा जी के द्वारा बनाई जा चुकी थी। पर इस स्वप्न को लिये हुए ही वे संसार से उठकर चले गये और यह अपूर्व सम्बन्ध नहीं हो सका।" इसका उत्तर क्या मिला होगा यह तो मुझे पहले से ही मालूम था पर किन शब्दों में मिला होगा यह तो कल्पना की ही बात है। हां, किसी अशिष्टता की बात नहीं ही हुई होगी। मेरे दादा जी स्पष्ट-वक्ता थे, उनमें वंचकत्व नहीं था जो आजकल का भूषण है। पर अशिष्टता नहीं, कभी नहीं, "नेवर"।

पर किसी भी मूल्य पर दादा जी की सहमति लेनी आवश्यक थी। अतः एक और प्रयत्न करके देखा जाय। ध्यान रखें, इधर विवाह की तैयारियां चल रही थीं। मैंने दृढ़ता-पूर्वक निश्चित कर लिया था। उन दिनों मैं परिवार से स्वतंत्र था ही। आरा कांग्रेस शिविर में रहता था। आन्दोलन स्थगित था।

गांधी जी "राउण्ड टेबल कॉन्फ्रेंस" में भाग लेने के लिये लंदन गये हुए थे। अतः छुट्टी-सी थी। मैं शर्मा जी के परिवार में, बहुत कम ही सही, पर आता-जाता तो था ही। सास का पत्र पाकर मैं पटने गया। सास ने कहा, "देखो, मेरी लड़की सयानी हुई।। अपने उत्तरदायित्व को खूब समझती है। मैं जानती हूं कि वह तुम्हारे पास पत्र भी लिखती है। अन्य प्रस्ताव जब उसके सामने रखे जाते हैं तो वह अस्वीकार करती है पर तुम्हारा नाम आते ही वह मौन-धारण कर लेती है।। अतः यह अनुमान होता है कि वह तुम्हारे साथ विवाह कर लेने में राजी है। तुम अपनी बात कहो।"

मैं कहता ही क्या ? मुझे याद नहीं कि मैंने क्या कहा। मैंने तो निश्चय कर ही लिया था। यह याद नहीं आता कि मैंने अपनी सास से वसुमती (यही मेरी धर्मपत्नी का नाम है) से इन्टरव्यू (साक्षात्कार) कर बात कर लेने की अनुमति मांगी या नहीं। मुझमें, मेरे जैसे लजालु तथा भीरु व्यक्ति में इतना साहस कहां ? पर किसी न किसी तरह 'इन्टरव्यू' का अवसर निकल आया और हम लोग कुछ बातें कर सके। बातें तो और भी हुई होंगी। अन्य अवसरों पर भी हुई थीं। परन्तु अब में तथा तब में अन्तर था। पहले जब कभी बातें होती थीं तो हम दोनों विवाह को अस्वीकार करते थे। मैं तो अपनी पत्नी के वियोग में विधुर जीवन की दुहाई देता था और वसुमती अपनी छोटी बहनों के विवाह के प्रति चिन्ता तथा अपने विवाह के प्रति उदासीनता प्रकट करती थी। अतः अपने प्रश्न पर हम दोनों मौन रहते थे। वसुमती का आग्रह यह रहता था कि मैं उसकी छोटी बहन से विवाह कर लूं। वास्तव में पहला पत्न वसुमती की ओर से ही मेरे पास आया था। आधुनिक शब्दावली में "इन्सीएटिव" वसुमती ने ही लिया था। वह शायद भारतीय पद्धति के अनुकूल ही था क्योंकि भारतीय साहित्य में प्रेम की पहल नायिका (प्रकृति) की ओर से होती रही है। नायक (पुरुष) तो साक्षी मात्न है। परन्तु जो पहला पत्न मुझे मिला उसमें उसके पिता के देहान्त के मार्मिक उल्लेख के साथ अपनी बहन के विवाह के प्रस्ताव के साथ अपने आजीवन अविवाहित रहने वाले संकल्प की चर्चा भी थी। पता नहीं कि पत्न लिखने का वास्तविक उद्देश्य क्या था। सम्भव है कि उसका अचेतन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा हो और चेतन अपनी छोटी बहन में अपने को प्रोक्षेपित (प्रोजेक्ट) कर अपने ही स्वार्थ की सिद्धि का सुगम मार्ग निकाल रहा हो। आधुनिक मनोविश्लेषण ने चेतन के छलछद्मों का जो विवरण उपस्थित किया है उसकी माया के लिए कोई भी बात असम्भव नहीं।

मैं आज सारी परिस्थिति का अवलोकन करता हूं और अपने विवाह के भूत, भविष्य और वर्त्तमान सबको देखने में समर्थ हूं तो ऐसा लगता है कि हो

न हो शर्मा जी भी अपनी छोटी कन्या कुमुद से ही विवाह की योजना बना रहे थे। उन्होंने वसुमती के योग्य मुझे नहीं समझा था। और जब विचार करता हूं तो लगता कि उनकी कल्पना ठीक थी। वसुमती का मस्तिष्क अधिक प्रौढ़ था, वह अधिक गंभीर थी, अधिक सोचने वाली थी। जिन तन्तुओं से उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था वे अधिक बौद्धिक, मानसिक, दैहिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक ऐश्वर्य की मांग करते थे। उसकी दिव्य देह-यष्टि, भावुक कल्पना, अन्दर ही अन्दर घुमड़ने वाली आकांक्षायें एक ऐसे व्यक्तित्व की अपेक्षा करती थीं जिसके पास अतुल सम्पत्ति हो, जिसकी आवाज में मेघ का गर्जन तथा बिजली की कड़क हो और जो उस पर प्रेम-पूर्वक शासन कर सके। पर मुझ में इन सब गुणों का अभाव है। मेरी काया कृश है, मैं अपने सम्पर्क में आने वालों पर अपनी बौद्धिक आढ्यता की छाप नहीं छोड़ सकता। मैं अपने मित्र वर्ग में अपनी सरलता, निरीहता, छलदम्भ-राहित्य के लिये प्रसिद्ध था। मेरी गणना उन व्यक्तियों की श्रेणी में होती थी जिन्हें "सिम्पल" से बढ़कर "सिम्पलटन" कहा जाता है। बिहारी लोग, प्रवाद है, "बुद्धू" होते हैं। इस प्रवाद के लिये मेरे जैसे व्यक्तियों ने ही आधार प्रस्तुत किया होगा। पर वसुमती वैसी न थी। उसके व्यक्तित्व में एक कौलीन्य था, "रिजर्वडनैस" था, वह बहुत कम बोलती थी, उसकी बातों में ताकत होती थी। अपने माता-पिता पर भी उसका प्रभाव था। स्व० शर्मा जी को तो परिवार के मध्य में देखा नहीं था पर यह तो मैंने स्पष्ट देखा था कि मेरी सास पर वसुमती का प्रभाव परिवार के सब सदस्यों से अधिक था और परिवार की राजनीति में वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती थी।

अतः इन दो विपरीत स्वभाव वाले, विषम प्रकृति व्यक्तियों का जीवन में वैवाहिक सूत्र में आबद्ध हो जाना यह आश्चर्यजनक बात थी। हमारा विवाह एक तरह से प्रेम-विवाह (लव मैरिज) था। हम दोनों ने एक दूसरे का चुनाव किया था। सच पूछिए तो इस विवाह से पूर्व सहमति हमें दोनों को छोड़कर किसी की भी नहीं थी। सब लोग आश्चर्यचकित थे कि वसुमती यह क्या करने जा रही है। पर यह विवाह होकर ही रहा। यह क्योंकर सम्भव हो सका? इसके द्वारा दो सम्बन्धित व्यक्तियों की कौन-सी मूल-प्रवृत्तियों की तृप्ति हो रही थी? **यौन-आकर्षण**, अथवा ऐश्वर्य की कामना, यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे इत्यादि के ऊपरी स्तर पर इसका समाधान करना समस्या पर बहुत हल्के ढंग से विचार करना है। दोनों पक्षों में इन सब गुणों का नितान्त राहित्य था। मेरे यौवन में वह उद्दामता नहीं जिसकी लौ पर पतंग जल जाते हैं। वसुमती में भी वह अनिंद्य सौन्दर्य नहीं था जिसका कवियों ने वर्णन किया। **किला व्याज मनोहरवपुः, अधरः किसलयरागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू।**

कुसुममिव लोभनीय यौवनभंगेषु संनद्धम्। वास्तव में सही बात तो यह है कि वसुमती में नार्योचित कोमलता से अधिक पुरुषोचित गाम्भीर्य था। मुझ में यशोलिप्सा की भावना हो सकती है क्योंकि शर्मा जी के परिवार से सम्बद्ध हो जाना कम गौरव की बात न थी। पर शर्मा जी के गोलोकवास से इसका भी बहुत कुछ आधार नष्ट हो गया था। अर्थ-प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं था। क्योंकि दोनों पक्ष "अनर्थ" थे। न तो मैं ही धनाढ्य था और न वसुमती की मां ही। मेरी आर्थिक दशा कितनी दयनीय थी इसका उल्लेख कर चुका हूं और अपनी सास की आर्थिक विपन्नता को मैंने प्रत्यक्ष रूप में देखा ही था। शादियां अर्थ-करी होती हैं। पर इसका वहां यत्किंचित भी अवसर नहीं था। पर तिस पर भी यह विवाह होकर ही रहा। बाद में मैं कहा करता था कि जिस तरह कहा जाता है कि Clive founded British Empire in a fit of absenti-mindedness उसी तरह We married in a fit of absenti-mindedness.

तो घटनाएं जिस रूप में विकसित हो रही थीं उसका संकेत तो स्पष्ट ही था और सब लोग उस संकेत को पढ़ भी रहे थे कि यह विवाह तो होकर ही रहेगा पर मेरी सास को इस बात पर बड़ा दुख था कि मेरे परिवार के सबसे वरिष्ठ गुरुजन मेरे दादा जी की सहमति तथा आशीर्वाद इसे प्राप्त नहीं। इस मंगलमय अवसर पर इन्हें साथ लेने का एक और प्रयत्न किया जाए। मेरे मामा पं० देवदत्त त्रिपाठी, संस्कृत प्रोफेसर, पटना कालेज स्व० शर्मा जी के सहयोगी थे और उनके देहान्त के बाद वे ही उनके स्थान पर नियुक्त हुए। त्रिपाठी जी मेरे दादा जी के समवयस्क थे। यदि ये मेरे दादा जी से इस विवाह की संस्तुति कर दें तो कार्य-सिद्धि की आशा हो सकती है। अतः मेरी सास ने अपने परिवार के सम्मानीय सदस्य के साथ त्रिपाठी जी को मेरे दादा जी के पास भेजा। त्रिपाठी जी सहमत भी हो गए, और डेपुटेशन के साथ मेरे गांव में दादा जी से मिलने गए भी। लेकिन खुदा की बात जहां थी वहां रही। दादा जी ने सहमति नहीं दी, नहीं दी।

मैं इस घटना का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि हम ठीक तरह से समझ लें कि मानस-प्रयत्न कितना दुर्बल होता है। अदृष्ट शक्ति के एक संकेत से मार्ग की वक्रता प्रशस्तता में परिणत हो जा सकती है, हिमालय झुकाया जा सकता है, चांद और सूरज पृथ्वी पर उतर आ सकते हैं। नहीं तो हाथ के तोते भी उड़ जा सकते हैं, **करतलगतमपि नश्यति**। यह भी समझ लें कि मनुष्य चाहे वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो पर कितना जटिल—मैं कहना तो चाहता था कि कुटिल हो सकता है। त्रिपाठी जी की विद्वत्ता का कहना ही क्या है। गुणीजन गणनारंभ में लोगों की उंगली उनकी ओर हठात् उठ जाती

है। विहार-गौरव नाम से उनकी जीवनी पर एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी। संस्कृत साहित्य और धर्मशास्त्र के अध्ययन में ही उन्होंने अपना सारा समय दिया। किन्तु फिर भी बौद्धिक ईमानदारी, प्रतिश्रोत्य, सहृदयता इत्यादि मानवीय गुणों का प्रकाश उनके व्यक्तित्व में नहीं हो पाया था। वे किसी के मुंह पर मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातें कर सकते थे पर उसकी पीठ फिरते ही उसे गालियां दे सकते थे। उनकी प्रकृति की यह द्विजिह्वता मुझ जैसे आदर्श-प्रभावित नवयुवक को बहुत खटकती थी।

उधर मेरे दादा जी को उच्च शिक्षा कभी नहीं मिली। वे आई० ए० परीक्षा में भी उत्तीर्ण नहीं हो सके। धर्म-शास्त्र इत्यादि पढ़ने का उन्हें कभी भी अवसर नहीं मिला। वे आजीवन पुलिस-सेवा में रहे जहां मार-पीट तथा चोर-डाकुओं से ज्यादा काम पड़ता है। पर उनके जैसा ईमान का पक्का, दृढ़-प्रतिज्ञ, स्पष्ट वक्ता, नारिकेल समाकार कोमल व्यक्ति आज तक कम ही मिला। उनसे विवेक की भूल हो सकती थी, घटना-वस्तु-व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप को समझने में वे गलती कर सकते थे। जैसा मैंने ऊपर उल्लेख किया है। वे सदा मुझ से असन्तुष्ट ही रहे पर उन्होंने कभी भी किसी तरह की बेईमानी नहीं की। लोगों की छाती पर छुरा भोंका पर पीठ पर कभी भी नहीं। किसी के सामने तो ऐसी बात कह दी जिसकी स्पष्टता कड़वी-सी लगे पर अपरोक्ष निन्दा उनके पास फटकने भी नहीं पाई। सत्य उनका अप्रिय भले ही हो पर असत्य को प्रिय उन्होंने कभी भी नहीं बनाया। ऐसे ही दो विपरीत-स्वभाव, विषम-प्रकृति व्यक्तियों का सम्मेलन मेरे विवाह की समस्या को सुलझाने के लिए बभनगांवा ग्राम में हो रहा है। मानो गेटे और नेपोलियन मिल रहे हों। देखें क्या होता है। हालांकि परिणाम सब लोगों को मालूम ही था।

वार्तालाप भंग हो गया। समझौता नहीं हो सका। क्यों नहीं हो सका यह तो किसी को मालूम नहीं क्योंकि वार्तालाप गोपनीय रूप में हुआ था। परन्तु दादा जी ने कहा था कि त्रिपाठी जी स्वयं इस विवाह के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने उनसे एकान्त में पूछा, "कहिए पण्डित जी, आप स्वयं इस बरात में सम्मिलित होंगे?" देवदत्त जी ने उत्तर दिया, "राम, राम, मैं सम्मिलित काहे को होने लगा? शर्मा जी को आप जानते ही हैं। धर्म, कर्म, खान, पान के बारे में कितने उच्छृंखल थे। पर अब यह विवाह तो रुकने वाला नहीं, होकर ही रहेगा। अतः यही अच्छा है कि आप साथ दे दें।" मैं दादा जी की बातों में अविश्वास नहीं कर सकता। देवदत्त जी को जैसा मैं जानता था उसके आलोक में मैं कह सकता हूं कि उनके लिए वह दुरंगी नीति सम्भव थी। इसका प्रणाण यह भी है कि वे बरात में सम्मिलित नहीं हुए। क्या आपको यह श्लोक याद नहीं आता:

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणम्
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनाम्
स्वभावमेवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ।

आज के युग में किसी प्रभावशाली व्यक्ति की संस्तुति द्वारा किसी पद-प्राप्ति या किसी स्वार्थ-सिद्धि की बात जीवन की साधारण घटना-सी हो गई है । मैं भी इस चक्कर में कुछ दिन तक रहा हूं । यह नहीं कह सकता कि इन प्रयत्नों, प्रभावों, संस्तुतियों का प्रभाव घटना-चक्र पर पड़ा ही नहीं है पर अन्त में चलकर मेरी योग्यता, कर्त्तव्य-शक्ति, कर्त्तव्य-परायणता मेरे स्वकीयोपार्जित गुण ही मौके पर काम आये हैं । जिस तरह मेरी निरीह, असहाय सास की पीठ पर उनके ही एक तथाकथित हितैषी द्वारा छुरा भोंकने की चेष्टा की गई पर फिर भी उनके प्राणों की रक्षा हुई अर्थात् उनकी कन्या का विवाह होकर ही रहा है उसी तरह मेरे कितने ही मित्रों ने मेरी सहायता के नाम पर गला काटने का प्रयत्न किया है पर होकर वही रहा जो भगवान् की इच्छा रही है । आज तो यह भी समझ में नहीं आता कि किस घटना ने मेरा गला काटा और किसके द्वारा सुरक्षा हुई । जिस घटना को मैंने अभिशाप समझा और जिस पर मैं आठ-आठ आंसू रोया वह आगे चलकर वरदान प्रमाणित हुई । समझ में नहीं आता किसे विजय समझूं और किसे पराजय । "**किस विजय पर ढोल पीटूं, किस पराजय पर धुनूं सिर ।**" सबके द्वारा भगवान की लीला सम्पन्न हो रही है । "**अरक्षितं तिष्ठति देव-रक्षितं, सुरक्षितं देव-हतं विनश्यति ।**"

विवाह के लिए मैं भी बहुत उत्सुक नहीं था, मेरी भावी पत्नी भी नहीं । मैंने जब कांग्रेस में आकर भद्र अवज्ञा आन्दोलन में कार्य करना प्रारम्भ किया तो विवाह की कल्पना जो कुछ भी मेरी सास के मन में रही होगी वह भी ठण्डी पड़ गई होगी । कौन इस तरह के अव्यवस्थित, निस्संबल, साधनहीन, गृहस्थ-जीवन-यापनासमर्थ नवयुवक व्यक्ति को कन्या देने जाय । बिहार में विवाह के अवसर पर स्त्रियां एक गीत गाती हैं । जब पार्वती की मां मैना ने सुना कि पार्वती का विवाह एक जटिल, दरिद्र तपस्वी से होने जा रहा है तो उसने प्रतिज्ञा की कि :

ऐसन तपसिया के धिया नाहीं देवों, वरु गौरा रहिहैं कुंआर ।

अर्थात् चाहे गौरा कुवारी रहे वह ठीक, पर ऐसे तपसी को मैं अपनी लड़की नहीं देती । मेरी कल्पना है कि कुछ इस तरह की ही मनोवृत्ति मेरी सास वगैरह की हुई होगी । जब मैं जेल चला गया तो वह रही-सही इच्छा भी समाप्त हो गई । पर भगवान की लीला देखिए । मैं जेल से जल्दी ही छूट आया । सरकारी भद्र अवज्ञा आन्दोकन स्थगित हो गया, गांधी जी आर०टी०सी०

में भाग लेने चले गए। ऐसा लगता है कि भगवान के दरबार में निश्चय ले लिया गया था कि यह विवाह होगा और इसी के लिए उसने देशव्यापी इतने बड़े आन्दोलन को स्थगित कर दिया। नहीं तो इतने बड़े आन्दोलन के स्थगित होने की क्या आवश्यकता थी। जब मैं इस बात पर विचार करता हूं कि यह आन्दोलन दो महीने के लिए ही स्थगित हो गया था, गांधी जी इंग्लैण्ड से लौटते समय भारत भूमि पर पैर रखने भी नहीं पाए थे कि हां, तो मेरी जवानी कांग्रेस के प्रांगण में प्रारम्भ हुई। पर वह वहां चली नहीं। अथवा यों कहिए कि चलने नहीं दी गई। गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन खूब जोरों से प्रारम्भ हुआ। लोग धड़ाधड़ जेल जाने लगे। मुझ पर भी बहुत दबाव दिया जाने लगा पर मुझे कांग्रस में जाना नहीं था। प्रभु की इच्छा नहीं थी, मैं इच्छन्नपि नहीं जा सका। विवाहित हो जाना, एक तरह के उत्तरदायित्व का भार आ जाना भी इसका कारण था।

कांग्रेस में संलग्न रहने के लिए, मतलब स्वातन्त्र्य आन्दोलन से किसी-न-किसी तरह मुझे सम्बद्ध रखने के लिए कितने ही लोगों के द्वारा प्रयत्न किए गए। उन सबों को कहां तक गिनाया जाय। पर दो प्रयत्नों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। एक बड़ा ही सशक्त प्रयत्न हुआ पण्डित गुप्तेश्वर पाण्डेय की ओर से और दूसरा हुआ पं० रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की ओर से। इन लोगों ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से मेरे पास पहुंचने का प्रयास किया। मनुष्य के लिए दो वस्तुओं का प्रलोभन अलंघ्य होता है, अर्थ का और यश का। यदि दोनों का समन्वय हो जाय तो वह आकर्षण अमोघ हो जाय। यश की तो कोई बात ही नहीं थी। कांग्रेस की गली-गली में यश की गंगा बहती रहती थी। "**गली-गली माखन बिके।**" कांग्रेस में आते ही समाचार-पत्रों के कालम उसके लिए खुल जाते थे। अतः यश की कोई बात नहीं थी। कांग्रेस के पारस-स्पर्श से ही पत्थर भी सुवर्ण होकर चमक उठता था। हां अर्थाभाव अवश्य था। यह समस्या कैसे हल हो?

विवाह के बाद अर्थाभाव की समस्या धीरे-धीरे सिर उठाने लगी थी। जब तक अकेला था, जोई राम सोई राम वाली मनोवृत्ति थी। जहां शाम वहीं विहान। कांग्रेसी जीवन ने इस तरह की मनोवृत्ति पैदा कर दी थी। पर अब तो एक पत्नी भी साथ थी। पत्नी भी वैसी जो एक स्टैण्डर्ड की थी। उसे घर पर परिवार के साथ छोड़ा नहीं जा सकता था। वैसे थी तो वह बहुत अच्छी। मुझे आश्चर्य होता था इस बात पर भी कि इतनी ऊंची शिक्षा प्राप्त कर भी, होस्टल में रहकर भी वह मेरे ग्रामीण परिवार के साथ किस तरह सामंजस्य बैठा लेती थी। पर मेरे मन में सदा यह आशंका बनी रहती थी कि उसे वहां बहुत तकलीफ होती होगी। ऐसी परिस्थिति में एक दिन श्री गुप्तेश्वर पाण्डेय जी का

पत्र आया। पत्र नहीं आया, एक आदमी पत्र लेकर आया कि मैं शीघ्र ही पत्रवाहक के साथ आरा चला आऊं। श्री राजेन्द्र बाबू ने किसी विशेष कार्यवश बुलाया है। मैं आरा गया कि वे गिरफ्तार कर लिए गए और फिर आन्दोलन प्रारम्भ हो गया तो मेरी यह कल्पना सही जान पड़ती है कि मेरे विवाह के लिए ही भगवान की ओर से यह सारी व्यवस्था की गई थी। मेरे विवाह के लिए ही नहीं कहिए कि मेरे कल्याण के लिए। क्योंकि ऐसा कहने की इच्छा हो रही है? इसके कारण हैं।

मेरी जवानी आरा के कांग्रेस आफिस से प्रारम्भ हुई। मैं वहां जाते ही जिला कांग्रेस का उपमन्त्री बन गया। श्री गुप्तेश्वर पाण्डेय जी मन्त्री थे। मन्त्री क्या थे कहिए कि हम लोगों के सहयोग से ही मन्त्री बने। नहीं तो भूतपूर्व मन्त्री श्री रामायणप्रसाद का कम प्रभाव न था। उनके समर्थक भी कम न थे। पर मैं, पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र तथा इन्द्रदेव सिंह एम० ए० के अध्ययन का परित्याग कर आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे और हम लोगों के सहयोग से सचमुच कांग्रेस में जीवन का संचार हो गया था। अतः हम लोगों का प्रभाव था। श्री पाण्डेय जी ने हवा के रुख को पहचाना और उनकी वरिष्ठता ने हम लोगों को संरक्षण में लिया और वे जीत गए, मन्त्री बन गए। एक बात और कह देने की इच्छा होती है। आज कांग्रेस में गुटबन्दी, साम्प्रदायिकता, भाई-भतीजा-वाद, स्वार्थ, लोलुपता अपनी पराकाष्ठा पर है। इस प्रवृत्ति की भर्त्सना बड़े जोरदार शब्दों में की जाती है और कहा जाता है कि कांग्रेस के सदस्यों को स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पूर्व वाले त्याग तथा सेवा-भाव को अपनाना चाहिए। मतलब यह कि उस समय कांग्रेस के सब कार्यकर्त्ताओं की नस-नस में त्याग और सेवा की भावना परिव्याप्त थी। जिन लोगों के अनुभव भिन्न प्रकार के रहे हों भले ही इन बातों पर विश्वास करें पर मेरे जैसा व्यक्ति तो इस घपले में आकर पुराने कार्यकर्त्ताओं को ऐसा प्रमाण-पत्र देने के लिए तैयार नहीं होगा। उस समय भी गुटबन्दी खूब चलती थी, छीना-झपटी खूब होती थी, अपने विरोधियों को लांछित करना, करैक्टर एसेसीनेसन करना खूब चलता था। बात इतनी-सी थी कि उस समय कांग्रेस के पास कुछ था नहीं, कोई शक्ति नहीं थी, धन तथा धन-प्राप्ति का साधन नहीं था। अतः इन झगड़ों के खुलकर सामने आने का अवसर ही नहीं आता था। यदि मूल था नहीं तो शाखा की बात ही क्या? लता के अभाव में प्रसूनागमन की कथा ही क्या? अतः ये झगड़े खुलकर सामने नहीं आते थे। आरा जाने पर पता चला कि बिहार प्रान्तीय कांग्रेस आफिस में कोई जगह रिक्त है। यदि मैं उसे स्वीकार कर लूं तो श्री राजेन्द्र बाबू मुझे वहां रख लेने के लिए तैयार हैं। ६०) वेतन भी मिलेगा। मुझे बड़ी कठिन परीक्षा की घड़ियों का सामना करना पड़ा। आप १९३२-३३ के जमाने की

याद करें जब कि ६०) का मूल्य आज के ३००) रुपयों का तो था ही। अतः अन्दर से बड़ी प्रेरणा मिली और मन में आया कि इसे स्वीकृत कर लिया जाय। उस समय मेरे पिताजी की कल्पना थी कि तीन रुपयये महीने में भोजन का काम चल सकता है पर पिता जी तथा उनके सलाहकारों ने इसके लिए सहमति नहीं दी। पाण्डेय जी की योजना सफल नहीं हो सकी।

इसी तरह श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी जी की ओर से भी एक प्रयत्न हुआ। उन दिनों मैं पटने में अपनी सास के साथ रहने लगा था। उस समय 'युवक' मासिक-पत्रिका पटने से बेनीपुरी के सम्पादकत्व में निकला करती थी। आज तो पटने के उद्यान में अनेकों पत्र-पत्रिकायें लहलहा रही हैं और उसके वातावरण को इन्द्रधनुषी रंग से सौंदर्य-मंडित कर रही हैं पर उन दिनों बिहार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लिए तो मरुभूमि ही थी। 'युवक' ही किसी तरह चल रहा था। पर उस पर भी सरकार की वक्रदृष्टि रहती थी। जो व्यक्ति युवक से कुछ भी सम्बन्ध रखता था वह घोर राजविद्रोही समझा जाकर उसकी आंखों का कांटा बन जाता था। 'युवक' का प्रकाशित होना कठिन था क्योंकि कोई उसके सम्पादक के लिए नाम देने को तैयार नहीं था। कौन जान-बूझकर बाघ के मुख में अपनी गर्दन दे। मुझे याद तो नहीं आता कि क्या कारण था पर ऐसा कुछ अवश्य था कि बेनीपुरी अपना नाम नहीं दे सकते थे। अतः उन्होंने मुझे बुलाया और युवक के सम्पादक के स्थान पर नाम देने के लिए प्रार्थना की। मुझे याद नहीं कि उन्होंने क्या-क्या तर्क दिए, कौन कौन-सी बातें कहीं पर वह गंगातट, पटना कालेज के सामने बहने वाली गंगा जिसके तट पर संध्या समय उन्होंने बातें की थीं वह तो आज भी नेत्रों के सामने स्पष्ट दीख रही है। मैं मन-ही-मन तैयार था। इस तरह पुण्य और कीर्ति की गंगा मेरे घर पर ही आ गई है तो क्यों न उसमें स्नान किया जाय। और यह बात सही थी कि आज युवक के सम्पादक के स्थान पर मेरा नाम जाता नहीं कि कल मैं बिहार का हीरो होता, मेरे प्रशस्ति-गान में समाचार-पत्र आकाश और पाताल का कुलावा एक कर देते, क्रान्तिकारी दल वाले मुझसे सम्पर्क बढ़ाते, मुझे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते। सरकार तो मुझे पुनः कुछ वर्षों के लिए जेल में डाल ही देती। इसका परिणाम यह होता कि मेरी जवानी पर राजनीति की पक्की मुहर लग जाती, मेरे जीवन का मार्ग निश्चित हो जाता।

यदि यह बात हुई होती तो मेरा क्या हुआ होता, मेरी क्या गति या दुर्गति हुई होती, कभी-कभी यह कल्पना करने की इच्छा होती है। हालांकि इस हेतु-हेतु मद्भूतत्त्व का कोई महत्व नहीं है। यह हुआ होता तो क्या हुआ होता इस तरह कल्पना-वृत्ति ही निरर्थक है। पर साहित्यिक लोग इस तरह की कल्पना करते अवश्य हैं और मैं पूर्ण साहित्यिक भले ही न होऊं पर साहित्यिकों का

पिछलग्गा तो अवश्य हूं। लीडर नहीं तो लीडरों की दुम जरूर हूं। जैनेन्द्र जी कल्पना करते हैं कि यदि मैं गोदान लिखता तो···। मेरे मन में एक बार कल्पना आई थी कि यदि मुझमें उपन्यासकार की प्रतिभा होती तो मैं वहां से प्रारम्भ करता जहां से होरी की मृत्यु हो गई है। एक कवि ने कल्पना की, **"यदि कभी मैं तोता होता, तो क्या होता, तो क्या होता। तो तो ता ता तो तो ता ता होता होता, होता।"** आज के जीवन तथा अपने आत्मिक जीवन में आस्था के अभाव के कारण लोग कल्पना की शरण में जाने लगे हैं। एक तरफ तो यथार्थवाद की मांग बढ़ रही है दूसरी ओर कल्पना अपनी 'उरूजे कामयाबी' पर है। प्राचीन काल में इस तरह के काल्पनिक विलास के साहित्य की रचना होती हो इसका ज्ञान मुझे नहीं है। मैं अपने को आधुनिक युग का व्यक्ति समझता हूं। कम से कम उसका दावा तो अवश्य ही करता हूं। युग के कंठ-स्वर में अपना स्वर मिलाऊं, उसी के साथ पैर में पैर मिलाकर चलने की चेष्टा करूं तो यह अस्वाभाविक नहीं है। अतः इस कल्पना का आनन्द लेने दीजिए कि मैं 'युवक' का सम्पादक हुआ होता तो क्या होता।

पहले इस बात को इसी दृष्टि से प्रारम्भ करूं कि क्या नहीं होता। होने को तो बहुत हुआ होता। यह भी हो सकता था, वह भी हो सकता था, राजा भी हो सकता था, फकीर भी हो सकता था। कांग्रेस आफिस में झाड़ू लगाने का भी कार्य करता या वहां का, देश का राजा भी हो सकता था। पर क्या नहीं होता वह तो एक ही है। अर्थात् आज जो हूं वह नहीं होता। आज मैं एक विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के पद पर कार्य कर रहा हूं। उस अवस्था में जब मैं १९३८ में 'युवक' का सम्पादक हो गया होता तो यह नहीं होता—इतना तो निश्चित है ही, **नास्त्यत्र संदेहः**। मैं कभी भी राजस्थान में नहीं होता। कम से कम ३-४ वर्षों के लिए जेल में होता जिसका अर्थ होता सदा के लिए राजनीति के साथ गठबन्धन। राजनीति के साथ गठबन्धन का परिणाम होता सदा के लिए शिक्षा, शैक्षणिक तथा साहित्यिक कार्यों से सम्बन्ध-विच्छेद जिसका मतलब मेरा सर्वनाश। इस समय जब प्राक्-स्वातंत्र्य युग के कांग्रेसी सोने के तख्त पर बैठे आनन्द कर रहे हैं, चांदी काट रहे हैं, रंक से राव हो रहे हैं, **"हो गए रंक से राव तबै जब बीरवली कांग्रेस निहारो, भूल गई जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारो"**। तब मैंने सर्वनाश की बात क्यों कही। क्या मैं भी इस सुखद, आनन्दप्रद परिस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता था। इसमें क्या अड़चन थी। यह बात मैं अभी कहूंगा। थोड़ा-सा धैर्य रखिए। अभी इसकी चर्चा होगी। आखिरकार मेरी लेखनी परिचालित ही इसलिए हुई है कि वह स्वच्छन्दता से प्रस्ताव करे, आत्म-विश्लेषण करे और उन बिखरे हुए अनुभवों में कोई अन्वित सूत्र खोज सके। जवानी के दिन तो एक बहाना मात्र

है जिसके आधार पर किसी व्यापक तथ्य की उपलब्धि का प्रयत्न हो रहा है।

परन्तु अभी जो ऊपर की पंक्तियों में युवक के सम्पादकत्व से लेकर सर्वनाश तक की काल्पनिक घटनाओं की जो शृंखला बंध गई है और एकावली अलंकार का जो उदाहरण उपस्थित हो गया है उसको देखकर मुझे गीता के एक श्लोक की याद आ रही है जिसमें भी घटनाओं की शृङ्खला है और जो एकावली अलंकार का उदाहरण है और जिसमें भी विनाश की बात कही गई है। मुझे इस समय आश्चर्य हो रहा है कि दोनों स्थानों पर, मतलब गीता में भी और मेरी विचार-धारा में भी विनाश की बात कैसे आ गई ? खैर श्लोक यों है :

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते
संङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

आप ध्यान से देखें, दोनों स्थानों में अन्तिम शब्द नाशमूलक है।

तो मैंने सर्वनाश की बात क्यों कही ? जब मैं आज इन ४८ वर्षों के ढूह पर खड़े होकर देखता हूं तो मुझे यह बात सही मालूम पड़ती है। सम्भव है जब जीवन आगे बढ़े और अपनी आलोक-रश्मि के नवीन रंग से इस अतीत को उद्भासित करे तो मुझे अपने मन में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता पड़े। T. S. Eliot ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध Tradition and Individual Talent में लिखा है What happens when a new work of art is created is something what happens simultaneously to all the work of art which preceded it. The existing monuments form an ideal order among themselves, which is modified by the introduction of the new (the really new) work of art among them. The existing order is complete before the new work arrives; for order to persist after the supervention of novelty, the whole existing order must be, if over so slightly, altered, and so the relations, proportions, values of each work of art toward the whole are re-adjusted, and this is the conformity between the old and new.

इलियट ने तो यह बात केवल नवीन कलाकृति के सम्बन्ध में कही है और बतलाया है किसी नवीन कलागम से कला के सारे इतिहास में परिवर्तन हो जाता है, उसमें नवीनता आ जाती है, उसमें पुनर्व्यवस्था करनी पड़ती है। पर यह बात केवल कलाकृतियों के लिए ही संगत नहीं, जीवन की सब घटनाओं के लिए भी सत्य है। कोई भी नई घटना घटती है तो उसके प्रभाव से बहुत सूक्ष्म

ही सही, अतीत की सारी घटना-शृङ्खला में एक तरह से परिवर्तन आ जाता है।

अतः आगे की बात नहीं कहता, आज की बात कहता हूं कि कम से कम मैं यहां नहीं होता। रहता या रहना पड़ता राजनीति के क्षेत्र में ही, या वहीं रहना पड़ता। खैर, इतना तो निश्चित ही हो गया कि मैं रहता कांग्रेस में ही, राजनीति में ही। पर साथ ही एक बात और भी होती ही। मैं बधिर भी अवश्य होता जैसा कि आज हो गया हूं। तब यह कल्पना बड़ी मनोरंजक हो सकती है कि ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या हुआ होता ? मैं एक दिन भी कांग्रेस में चल पाता ? विशेषतः बिहार जैसे जागृत प्रान्त के जागृत कांग्रेसी साथियों के बीच। जब हर तरह से सम्पन्न, आंख-कान सब इन्द्रियों की शक्ति लिए लोग रह जाते हैं और उनकी मिट्टी पलीद कर दी जाती है, बल्कि उनकी प्रतिभा, योग्यता, बौद्धिक-विकास ही उन्हें दूध की मक्खी बना देता है और पतन का कारण होता है तो मेरे जैसे बधिर की हस्ती ही क्या होती ? यह निश्चित था कि मैं वहां एक दिन भी चल नहीं सकता था। यह बात दूसरी है कि मैं बधिर नहीं हुआ होता ? सम्भव है कि प्राध्यापक जीवन में मुझे जो मानसिक परिश्रम करना पड़ा, छात्रों के प्राध्यापन के साथ न्याय करने के लिए, उनकी बौद्धिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए जो अहर्निश लगे रहना पड़ा, निशीथ-तैल को जलाते रहना पड़ा। (burning mid night oil) उसके कारण ही मेरे मस्तिष्क के किसी श्रावणिक तन्तु में दुर्बलता आ गई और मैं बधिर हो गया। सम्भव है कि राजनीति में रहने पर इतना मानसिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, वाक्शूरता से काम चल जाता, बौद्धिक समृद्धि के लिए उतनी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। फलतः मेरे श्रावणिक तन्तुओं में निर्बलता नहीं आई होती। पर ये सब तो कल्पना की बातें हैं। मैं राजनीति के आन्तरिक पहलुओं से परिचित नहीं हूं कि बतला सकूं कि वहां पर कैसे-कैसे नजारे होते हैं, क्या-क्या करना पड़ता है, मानस को किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। पर आज जो दृश्य देखने में आते हैं यदि उन्हें ही अनुमान का आधार बनाया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि वहां पर मनुष्य को सदा सूई की नोक पर ही रहना पड़ता है। संस्कृत में एक श्लोक है। **"चला विभूति, क्षण-भंङ्गि यौवनं, कृतान्तदन्तान्तर्वति जीवितम्।"** राजनीति की विभूति तो चंचल है ही, उसका यौवन तो क्षण-भङ्गि है ही, न जाने कब, किस ओर से वायु की लहर आए और उसे बहा ले जाय। राजनीति विरोधिदन्तान्तर्वति जीवित तो है ही। ऐसी सूरत में यह नहीं कहा जा सकता कि राजनीति के अखाड़े में मानसिक कष्ट तथा चिन्ताओं में किसी तरह की कमी रहती। आज तो यह परिस्थिति कभी-कभी आ जाती है कि जब प्रातः एम० ए० की कक्षा में लेक्चर देना होता है तो रात को ठीक से

नींद नहा आती। पर उन्निद्र रोग का शिकार नहीं हुआ। पर राजनीति में रहता तो उन्निद्र रोग होकर ही रहता। जीवन में दो ही बार मुझे रात को नींद नहीं आई है। उसकी कथा भी बहुत मनोरंजक है। पर फिलहाल उसे स्थगित रखता हूं क्योंकि मैं खूब समझ रहा हूं कि विषयान्तर के सूत्र इस तरह फैलते चले जा रहे हैं कि मुख्य विषय—जवानी के दिनों का पता तक नहीं चलता। अतः राजनीति का परित्याग मुझे बाध्य होकर करना पड़ा। १९३५ में मैं बिहार, वहां का राजनैतिक जीवन, वहां के बंधु-बांधवों को छोड़कर जोधपुर के लिए प्रस्थान करने लगा तो मेरे हृदय की गति क्या हुई वह तो मेरे जैसा भुक्त-भोगी ही जान सकता है या उन शरणार्थियों का हृदय जिन्हें देश-विभाजन के बाद अपने वतन को छोड़ना पड़ा होगा। कई बार तो ऐसा हुआ कि पटना से चला आरा तक पहुंचा। फिर किसी न किसी बहाने पटना को लौट गया। सच पूछिये तो आज भी अपने प्रान्त बिहार के लिए मेरे हृदय से माया-मोह गया नहीं है। आज अवकाश-ग्रहण करने का समय आया, शीघ्र ही सेवा से निवृत्त होने वाला हूं। पर मैंने कभी भी यह कल्पना नहीं की कि यहां पर मुझे बसना है। इसीलिए मैंने यहां एक इंच भी जमीन नहीं खरीदी, मकान नहीं बनवा सका, हालांकि मेरे पुत्र-कलत्र इत्यादि सदा इस बात के लिए आग्रह करते रहे। तिस पर तुर्रा यह है कि बिहार प्रान्त ने सदा मेरी अवहेलना की। वि० विद्यालयों से यदि मेरा सम्पर्क सबसे कम रहा तो बिहार के विश्वविद्यालयों से। यह तो कितने ही बार हुआ कि मैंने किसी पद के लिए प्रार्थना-पत्र दिया और मेरी नियुक्ति नहीं हुई। पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि मुझे साक्षात्कार के लिए बुलाया नहीं गया हो। यदि यह कभी हुआ तो बिहार प्रान्त में ही। पर तिस पर भी मेरे हृदय में बिहार के लिए जितना आकर्षण है उतना और किसी भी स्थान के लिए नहीं। "**अहो गहना प्रेम्णो गतिः।**" मुझे प्रसन्नता है कि मुझ में आशिकों की प्रीति की रीति के निबाह करने की शक्ति वर्त्तमान है।

है रीति आशिकों की तन मन निसार करना।
रोना, सितम उठाना और उनको प्यार करना।।

खैर, मैं अपने विवाह की चर्चा कर रहा था। उसका सूत्र फिर से पकड़ूं। श्री देवदत्त जी के द्वारा वैवाहिक संधि का जो प्रस्ताव भेजा गया था उसकी क्या गति हुई यह आप सुन ही चुके हैं।

अब मेरा विवाह होने वाला है। मेरे आस-पास के देहातों में इस क्रान्तिकारी विवाह की खबर गर्म है। एक तरफ मेरे जैसा अनुभवहीन, जीवन मार्गोपयोगी पाथेयहीन, निस्व, सर्वथा असहाय, पर आंतरिक उमंगों के बल पर विश्व को ललकारने की महत्त्वाकांक्षा से दमकता हुआ नवयुवक, दूसरी ओर अनुभवी, साधन-सम्पन्न, अनुशासन-प्रिय, अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हर तरह से

तत्पर वयोवृद्ध व्यक्ति। यह एक तरह से दो पीढ़ियों का, यौवन और वार्द्धक्य द्वन्द्व था। सचमुच मेरे दादा जी को बड़ा मानसिक कष्ट था। उन्होंने एक स्थान पर मेरे विवाह का वचन दे दिया था। परिवार भी प्रतिष्ठित और सम्पन्न था, लड़की भी शिक्षिता थी, हां कालेज में पढ़ने वाली नहीं थी। तब तक कन्या-निरीक्षण की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी। पर वे लोग कन्या को विवाह के पूर्व दिखलाकर उसकी सुन्दरता की जाँच कर लेने देने को तैयार थे। दहेज के रूप में रुपये तो देने के लिए वे तैयार ही थे साथ में कुछ स्थायी भूसंपत्ति भी प्राप्त हो रही थी।

मैंने निश्चय कर लिया है कि मेरा विवाह अवश्य होगा। यदि हमारा परिवार साथ देता है तो ठीक है, नहीं तो उसके बावजूद भी। आज जब मैं उन दिनों वाले अपने व्यक्तित्व पर विचार करता हूं तो मेरे चरित्र का एक पहलू स्पष्ट होकर सामने आता है जो आज भी किसी न किसी रूप में साथ लगा ही चलता है। मैं कभी भी वह नहीं रहा जिसे लौह-पुरुष कहते हैं। बिस्मार्क का इतिहास मैंने पढ़ा था, जिसकी नीति रक्त तथा लोहे (Blood and Iron) की नीति के नाम से विख्यात है। इधर सरदार पटेल के नाम के साथ भी इस विशेषण को जोड़ा गया है। एक-दो दिन ही हुए हैं कि कांग्रेस के प्रेसीडेंट श्री कामराज की किसी ने जीवनी लिखी है जिसका नाम है लौह-पुरुष (Iron man)। मैं भी लौह-पुरुष होने की कल्पना करता हूं, सब कुछ छोड़-छाड़कर, सब रौंदते-रांदते, मसलते-मसालते अपने आदर्श की सिद्धि की ओर अग्रसर होने की कल्पना मुझे बहुत आकर्षित करती है पर कदाचित् मेरे व्यक्तित्व का निर्माण और तत्त्वों से हुआ नहीं है। कालिदास ने रघुवंशियों के गुणों की चर्चा करते हुए उन्हें 'आफलोदय कर्मणाम्' कहा है अर्थात् रघुवंशी तब तक अपने उद्योग से विरत नहीं होते जब तक फलोपलब्धि न हो जाए। मैं वैसा नहीं हूं।

मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। नीच, मध्यम, तथा उत्तम। इनके लक्षण बताते हुए कहा गया है :

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्न-विहिता विरमंतिमध्या
विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति।

अर्थात् नीच लोग विघ्नभय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते। मध्यम श्रेणी वाले प्रारम्भ करते तो हैं पर विघ्नों से घबराकर विरमित हो जाते हैं। परन्तु उत्तम वे हैं जो पद-पद पर विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए भी अपने कार्य से विरत नहीं होते। मैं आज सोच रहा हूं कि मैं अपने को किस श्रेणी में रखूँ। मैं अपने को इस समय अपने विवाह-काण्ड के संदर्भ में ही रखकर विचार रहा हूं। विवाह यों ही जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। इस अवसर पर मनुष्य में जिस प्रकार का क्रियातत्परत्व जागे उससे उसके आन्तरिक स्वरूप तथा वास्तविक

स्वरूप की झांकी प्राप्त हो सकती है। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति का आप चरित्र-चित्रण कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश उसके जीवन की एक ही घटना मालूम है। घटनाएं तो उसके जीवन में घटी होंगी पर इतिहास उसके सम्बन्ध में मौन है। ऐसी परिस्थिति में उस एक ज्ञात घटना के आधार पर ही उस व्यक्ति की जीवन शैली का अनुमान कर लेना कठिन नहीं है। हम कल्पना कर सकते हैं कि जीवन के प्रत्येक संकट तथा परिस्थिति का सामना इस व्यक्ति ने इसी शैली में तथा इसी ढंग से किया होगा। और यह भी सही है कि अनुमान सत्य के बहुत कुछ समीप ही पड़ेगा, कम से कम बहुत दूर नहीं।

अतः प्रयत्नतः अपने में थोड़ी-सी तटस्थता लाता हूं। अपने को अपने से अलग करता हूं। प्रयत्नतः शब्द के प्रयोग पर वाल्मीकि द्वारा रावण के पुष्पक विमान के वर्णन में रचित एक श्लोक की याद हो आती है जिसकी प्रथम पंक्ति है "न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतः" अर्थात् वहां (पुष्पक विमान में) कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो प्रयत्न पूर्वक नहीं बनाई गई हो। उसी तरह यहाँ पर भी यह न समझ लीजिए कि सारी कथा सहज रूप में उपस्थित हो रही है। नहीं प्रयत्नतः दानाहान की क्रिया जारी है। कुछ बातें छोड़ दी जा रही हैं।

क्वचिदन्यतोऽपि

शास्त्रों में जिन पांच वस्तुओं को पांडित्य का मूल कहा गया है उनमें देशाटन का नाम सर्वप्रथम है ।

देशाटनं पण्डितमित्रता च ।
वारांगनाराजसभाप्रवेशः ।।
अनेक शास्त्राणि विलोकयन्तु ।
चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच ।।

मतलब यह है कि देशाटन से मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि में जितनी सहायता मिल सकती है उतनी अन्य किसी साधन से नहीं । अतः मेरी इच्छा सदा देश-पर्यटन की रहा करती है । यों तो मेरे जैसा व्यक्ति देशाटन से या पंडितमित्रता से किस तरह लाभ उठाए यह एक प्रश्न है । वार्तालाप के द्वारा या विचार-विनमय के द्वारा ही मनुष्य दूसरों के विचारों से लाभ उठा सकता है । मेरे लिए यह सम्भव नहीं । अतः मेरी सदा यही चेष्टा रहती है कि मैं अपने साथ एक दुभाषिया रखूँ जो मुझे सारे वातावरण से परिचित रखे ।

लोग क्या कहते हैं या कर रहे हैं ? सड़क पर चलने वाले दो व्यक्तियों में यकायक गुत्थम-गुत्थी क्यों हो गई और उनके बीच उत्तर और प्रयुत्तर की गोलियां जो दना-दन दग रही हैं उनका स्वरूप क्या है ? लाउडस्पीकर पर यह छोटा-सा बालक जो एलान कर रहा रहा है वह किस सम्बन्ध में है ? इत्यादि बातों को अर्थात् बाहरी दुनिया के प्रत्येक स्पन्दन को जब तक मनुष्य ग्रहण न करे अथवा यों कहिए कि संसार को अपने अन्दर समाहित न कर सके तब तक वह अपने में ज्ञान-संपन्नता किस तरह से लाए यह एक बड़ा कठिन प्रश्न है । साधकों द्वारा यह कहा जा सकता है कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है । अर्थात् दुनिया को समझाने-बुझाने के लिए अपने से बाहर जाने की को कोई आवश्यकता नहीं । ऐसे ऋषियों और मुनियों की कथा भी कही जाती है जो अपनी दिव्य दृष्टि से विश्व के सारे प्रपंच को जान लेते हैं पर ऐसे साधकों और तपस्वियों की गणना विरल है । **मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः** के लिए सम्भव नहीं । अतः बिना किसी दूसरे के कानों के सहारे मैं बहुत ही घाटे में रहता हूं और वही बात इस बार भी हुई ।

एक उदाहरण लीजिए न । बनारस स्टेशन से जब हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प्रस्थान करने लगा तो रिक्शा वाले तथा पुलिसमैन में किसी बात के लिए

झगड़ा हो गया। बात कुछ वैसी नहीं दीख पड़ती थी परन्तु इस अकाण्ड ताण्डव का सूत्रपात्र क्यों कर हो गया, इसके जानने की बड़ी उत्सुकता रही। दुर्भाग्यवश साथ में जो सेवक था वह साक्षर नहीं था। अतः लाख चेष्टा करने पर भी वह कुछ न बता सका और आज तक उस घटना के मूलभूत कारणों को मैं न जान सका। जो बात मनुष्य नहीं जानता है उसे जान लेने के लिए कितनी बड़ी उत्सुकता होती है। यों मैं कल्पना कर सकता हूं कि कोई बहुत बड़ी बात नहीं होगी। रिक्शा वाले ने किसी स्थान सम्बन्धी नियम का उल्लंघन किया होगा, उसी के लिए उसे डांट-फटकार पड़ती होगी। परन्तु मन में यह बात रह ही जाती है कि नहीं कुछ न कुछ असाधारण और दिलचस्प बात जरूर रही होगी जिससे मैं वंचित रह गया।

दूसरा उदाहरण और है। रुपये के हिसाब को लेकर हमारे दो प्रिय और आदरणीय सम्बन्धियों में पारस्परिक वाक्योच्चार होने लगा। कारण तो मुझे कुछ मालूम था लेकिन उन वाक्यों की बौछार की तथा वाकोवाक्य की जो शब्दावली थी उसे जानने के लिए मेरा मन तरसता ही रह गया। सोचता था कि ऐसे अवसरों पर मनुष्य की जिन्दादिली और सजीवता अपने पूरे उभार पर रहती है और भाषा को भी अपने पूर्ण जौहर के साथ प्रकट होने का अवसर मिलता है। पहले जब हमारे दादा जी किसी पर नाराज होकर आवेश में आकर दुर्वचनों का मेघ गर्जाने लगते थे तो हम लोगों को उसे सुनकर बड़ा ही आनन्द आता था। उस वक्त वे कुछ शब्दों का प्रयोग किया करते थे। वे आज भी हमारे शब्दकोश में ज्यों के त्यों मौजूद हैं और मैं उनका प्रयोग अभी भी अपने साहित्यिक लेखों में कर लेखों को सजीवता प्रदान करने की चेष्टा करता हूं।

हमारे गांव में एक लड़का था। था तो हरिजन ही और देखने में विशेष सुन्दर भी नहीं था, परन्तु साड़ी पहन कर नाचता था और उसका गला बहुत ही मधुर था। गांव की सारी जमात उसके नृत्य और गान को देखने-सुनने के लिए उमड़ पड़ती थी। एक बार मेरे वृद्ध चाचा जिनको हम लोग घरिच्छन चाचा कहा करते थे वे बड़े ही गद्‌गद् और भावुक कण्ठ से कहने लगे, "ए बच्चा, ऐ बच्चा मुखललवात करेजे नु खंखोर लेता" (मुखलाल नामक यह नृत्यकार तो कलेजे को ही खंखोर लेता है)। यहां पर जिस जिन्दादिली की अभिव्यक्ति खंखोरने की क्रिया से हो रही है वह अपनी अभिव्यक्ति में बेजोड़ है और शायद दूसरे किसी शब्द से वह सम्भव नहीं। आज तो हिन्दी के प्रयोगवादी और प्रपद्यवादी कवि भाषा के स्वरूप को बदलने का बीड़ा उठाकर ही चलते हुए प्रतीत होते हैं और नई-नई उपमाओं की सृष्टि करना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं। पुराने कवि का प्रियतम चांद की तरह सुन्दर होगा, तो नये कवियों का प्रियतम सोए हुए मेंढक की तरह।

बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियां सोई हुई हैं ।
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं,
सूरज की खेती चर रहे मेघ मेमने ।
विश्रब्ध अचकित·········।
भोर की हवा कुंवारी है ।
जैसी तुम थीं ।
अधखुला द्वार सा ।
जब मैं था ॥
नहीं,·········
सांझः,
एक असभ्य आदमी की
जंभाई है ।

इस तरह की अप्रस्तुत योजना का निर्माण कर आज का कवि फूला नहीं समता और भाषा को एक नई सजीवता प्रदान करने का गर्व अनुभव करता है । कहा नहीं जा सकता कि इस तरह के संकेत उन्हें कहां से मिलते हैं परन्तु ये संकेत जहाँ कहीं से मिले हों कम से कम लोक-जीवन का तो उसमें बड़ा ही अंश रहा होगा । देहात के सीधे-सादे अनपढ़ व्यक्ति जिस सजीवता के साथ उपमानों का प्रयोग करते हैं उसका एक उदाहरण हमारे सामने है । जिस चाचा की चर्चा मैं ऊपर कर आया हूं उन्होंने एक दिन मुझ से कहा कि अरे बाप रे बाप, रधवा की एड़ी तो रसगुल्ले की तरह है । मैं पूछता हूं कि किसी कवि की कल्पना क्या इससे अधिक सुन्दर उपमान की सृष्टि कर सकती है । और क्या इनको सुनकर आपके मुख में लार नहीं भर आई ?

परन्तु दूभाषिये के अभाव में एक जीवन की बहुत बड़ी अनुभूति से मैं वंचित रह गया । लड़कपन से मैं सुनता आ रहा था कि लोगों पर जो देवता या भूत आ जाता है और वे, देव की सवारी हो जाने के बाद, तरह-तरह से अपने अंगों का संचालन करते हैं, हाथ-पैर पटकते हैं, उछल-कूद करते हैं और अनेक तरह के सार्थक या निरर्थक वाक्यों का उच्चारण करते हैं । मेरे गांव से दो मील की दूरी पर स्थित इटहबा नामक ग्राम है जहां पर एक बगीचे में पीपल की जड़ें इस तरह टेढ़ी-मेढ़ी हो गई हैं कि उनमें किसी मूर्ति का दर्शन कर लिया जा सकता है जिस तरह कि आकाश में मेघ खंड तरह-तरह से सजीव रूप धारण कर लेते हैं । मैंने बचपन में यह कहानी सुनी थी कि मेघ कुछ नहीं । ये तो श्री राम जी के हाथी हैं जो अपनी सूंडों से समुद्र से पानी खींच लेते हैं और फिर उसे ही पृथ्वी की सतह पर छिड़क देते हैं । उसे ही हम बरसात कहते हैं । मनुष्य की बुद्धि जब शैशव अवस्था में होगी तब मेघों के

बनते-बिगड़ते विचित्र रूपों में उसने हाथी की कल्पना कर ली होगी और वर्षा होने का एक बोधगम्य कारण ढूंढ लिया होगा।

किसी भी घटना को कार्य-कारण की श्रृङ्खला में बैठाकर देखे बिना मनुष्य को चैन नहीं पड़ता और वह अपने मस्तिष्क के विकास के अनुसार ही एक व्यावहारिक कल्पना कर लेता है। आज के वैज्ञानिक भी वही कर रहे हैं। ये लोग कुछ घटनाओं का अवलोकन करते हैं और उन्हीं के आधार पर उन सब घटनाओं को अनुस्यूत करने वाले सूत्रों को खोज निकालते हैं जिसके द्वारा वे भौतिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं और उन पर नियन्त्रण करने का भी प्रयत्न करते हैं। कुछ समय तक उनके आधार पर विश्व का व्यापार चलता भी है, पर आगे चलकर उनमें त्रुटि दिखलाई पड़ने लगती है और ऐसा लगने लगता है कि उनके द्वारा सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती। अतः उनमें संशोधन की आवश्यकता दीख पड़ती है। कुछ दिन तक न्यूटन के सिद्धांत से काम चला। पर अब आइंस्टाइन की आवश्यकता दिखलाई पड़ने लगी। जिस वक्त इस तरह के विचार जिन्हें हम आज अन्धविश्वास कह कर टाल देते हैं, उत्पन्न हुए होंगे तब वे भी अपने रूप में कम वैज्ञानिक नहीं रहे होंगे और उनके द्वारा विश्व को कम लाभ नहीं हुआ होगा।

हां, तो मैं कह रहा था कि हमारे बचपन के मित्र के आग्रह पर मैं देवास लगने तथा भूत खेलाने के दृश्य को देखने के लिए गया। वहां पर जो दृश्य देखा उसका वर्णन थोड़े शब्दों में करना सम्भव नहीं। औरतों की संख्या ज्यादा थी, पुरुषों की कम। पर भूत खेलाने वाले पुरुष नहीं थे ऐसी बात नहीं है। देखा कि एक स्त्री बहुत जोरों से अपने सिर को झकझोर रही है, अपने अंग-प्रत्यंग का संचालन कर रही है और कुछ बक-झक भी कर रही है। आंखों से जो कुछ देखा जा सकता था उसे तो मैं अच्छी तरह देख सका, पर वह क्या बोल रही है, यह ठीक तरह से नहीं जान सका। कारण मेरे साथ स्थायी रूप से रहने वाले दुभाषिया मित्र नहीं थे। जो लोग थे वे नये थे और मुझे झटपट लिखकर बतलाने की क्रिया में अभ्यस्त नहीं थे अतः वे बेचारे लिखकर मुझे बतलाने की कोशिश तो जरूर करते थे पर ठीक तरह से वहां की परिस्थितियों की त्वरा का सामना नहीं कर पाते थे। जो कुछ उन्होंने मुझे लिखकर बतलाया उससे मैं यही जान सका कि भूत की सवारी होने पर यह महिला ऐसे ही कुछ वाक्यों का उच्चारण कर रही है। **जय जय मंगल होई बाबा। कवना विपतियां देन है मनुष्य देवा** इत्यादि-इत्यादि। जब हमारे मित्र इन सब वाक्यों का उच्चारण मुझे लिखकर बतलाने लगे तो वहां के भूताविष्ट लोगों में एक विचित्र सनसनी-सी फैल गई और भूत खेलाने वाली औरतों में से एक-दो ने यह कहना प्रारम्भ किया। **नतिया सब गीत छपवाई न्हस दादा** (ये बदमाश अब हमारे गीत छापने

के लिए देंगे)। मैं इन दृश्यों को देखकर किस तरह से प्रभावित हुआ इसकी चर्चा अभी थोड़ी देर बाद करूंगा। यहां यही कहना चाह रहा हूं कि एक अच्छे दुभाषिए के अभाव में ऐसे-ऐसे स्थलों का पूरा आनन्द नहीं ले सका।

इसी यात्रा में मुझे एक बरात में सम्मिलित होने का अवसर मिला। मैं बरात आदि में जाने से बहुत घबराता हूं, कारण कि प्रायः बरातों में खाने-पीने की समुचित व्यवस्था नहीं होती। उसका असर स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है और मैं स्वास्थ्य सुधारने तथा विश्राम करने के लिए ही घर गया था। किन्तु मित्र का आग्रह टालना भी कठिन मालूम होता था, फिर यह भी सोचा कि इक्के पर चढ़ कर दस मील चलना पड़ेगा। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि उस पुण्य प्रदेश का एक बार दर्शन कर आंखें तृप्त होंगी, हृदय में उल्लास का संचार होगा जो मेरे बचपन के अनेक तरह के शरारतभरे कृत्यों का क्रीड़ाक्षेत्र रहा है। कुछ मूल्य दिए बिना संसार में कोई चीज मिलती नहीं। **हंस हंस कंत न पाइया जिन पाया तिन रोय**। बरात में वर पक्ष और कन्या पक्ष के लोग जब आपस में मिलते हैं, तो प्रथा है, कि कुछ लोग किन्हीं विषयों पर शास्त्रीय चर्चा करते हैं और आपस में विचारों का विनमय होता है। पता नहीं यह प्रथा कब और कैसे प्रारम्भ हुई।

पर इसके मूल कारण को जान लेना कोई कठिन नहीं। यह आर्यों के विद्याप्रेम, तात्त्विक निष्ठा तथा मस्तिष्क की प्रौढ़ता का प्रमाण है। जब दो स्थानों के लोग मिलते होंगे तो स्वभावतः ही उन लोगों के अन्दर एक दूसरे के विचारों से लाभान्वित होने की इच्छा उत्पन्न होती होगी। और इसी लालसा ने इस वाद-विवाद की प्रथा की नींव डाली होगी। आज यह प्रथा भी अपनी सजीवता और मूल प्रेरणा को खोकर रूढ़िमात्र रह गई है। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में आज की तरह आवागमन की सुविधा के अभाव में पारस्परिक सम्मेलन इतना सहज नहीं रहा होगा। अतः विवाह के अवसर पर ही जिसमें दो सुदूर स्थित स्थानों के मनीषियों के मिलने का संयोग जुटता होगा, लोगों ने इसे इस रूप में उपयोग करने की बात सोच ली होगी। मेरा ख्याल है कि इस प्रथा को जागृत करना चाहिए और इसे आज की छीछालेदर से झाड़-पोंछ कर प्राचीन मूल्यों और महत्त्वों पर पुनः प्रतिष्ठित करना चाहिए।

ऐसे अवसर पर अर्थात् बरात के दरवाजे लगने के समय एक प्रश्न अवश्य किया जाता था और उसी पर शास्त्रार्थ खूब जम कर होता था। प्रश्न था **द्वारपूजा इत्यत्र को वा समासः**? अर्थात् द्वारपूजा, इस शब्द में कौन-सा समास है? बस क्या था? प्रश्न के छूटते ही दोनों ओर से रटी हुई शब्दावलियों के फौव्वारे छूटने लगते। द्वारस्य पूजा, द्वारे पूजा, द्वारात् पूजा, द्वाराय पूजा, द्वारेण पूजा सब तरह के समासों को दिखलाने की चेष्टा की जाती और अपने

पक्ष के समर्थन में तथा दूसरों के मत के खण्डन में अनेक आप्त वचनों तथा शास्त्रीय प्रमाणों तथा पाणानि के सूत्रों की दुहाई दी जाती थी। इन शास्त्रार्थों को सुन कर मन में यही धारणा जमती थी कि प्रतिवादी को किसी तरह निगृहीत करना, उसको पछाड़ना, अपनी गलत बात को भी सही साबित करना ही तर्क का लक्ष्य है, सत्य का अन्वेषण नहीं। ऐसा लगता है कि भारत की अभी हाल ही की दो-तीन शताब्दियां ऐसी गुजरी हैं जिन्हें Decadence का युग कह सकते हैं जिसमें मौलिक चिंतन की धारा अवरुद्ध हो जाती है, और सत्योपलब्धि की ओर से लोगों का ध्यान हट जाता है, रूढ़ियों का पालन तथा लकीर की फकीरी ही बस एक मात्र ध्येय हो जाता है।

मैंने बपने बचपन में इसी तरह के अनेक वाद-विवादों में बहुत भाग लिया है। उस समय दो भाषाओं में विवाद करना प्रतिष्ठाजनक मालूम पड़ता था। संस्कृत में और अंग्रेजी में। संस्कृत में वादविवाद तो प्राचीन परम्परा का पालन-मात्र था। बहुत प्राचीन काल में, कम से कम मध्ययुग से ही, हमारे पूर्वज संस्कृत में पाणिनि के सूत्रों पर या अन्य दार्शनिक गुत्थियों पर अपना सरमगजन करते आये हैं और आज भी हम उन्हीं गुत्थियों के सरमगजन का नाटक कर रहे हैं। पर अंग्रेजी भाषा में बोलना हमारी गुलाम मनोवृत्ति का परिचायक था और इस बात का सूचक था कि हमारे समाजिक संगठनों में इस तरह का विष किस तरह प्रवेश कर जाता था। मुझे अंग्रेजी के वावविवाद का एक मनोरंजक उदाहरण याद आ रहा है।

एक बार किसी बरात में मैं वादविवाद के लिए गया। ऐसे वादविवादों में होता है क्या कि किसी छोटे बालक से प्रश्न कराया जाता है। उसे सिखा-पढ़ा कर प्रश्न का उत्तर भी रटा दिया जाता है। वह तोते की तरह प्रश्न का उच्चारण कर देता है और उसके प्रौढ़ सहायक जो कुछ अपने को विद्वान् समझते हैं वादविवाद के क्रम को जारी रखते हैं। उत्तरपक्ष वालों की ओर से भी यही चेष्टा होती है कि एक छोटी अवस्थावाला बालक ही उसका उत्तर दे। इसके अन्दर अपनी प्रतिष्ठा की धाक जमाने की प्रवृत्ति काम करती रहती है। मतलब यह कि हम दिखाना यह चाहते हैं कि हमारे पक्ष के एक लघुवयस्क बालक में भी गम्भीर शास्त्रीय और दार्शनिक बातों को सुलझाने की क्षमता है। **बालोऽहं जगन्नाथ न मे बाला सरस्वती** इस उक्ति के द्वारा इस मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। खैर एक बार मैं कन्या पक्ष की ओर से; (कन्यापक्ष वालों को ही प्रश्न करने का अधिकार होता है) यों कौन सबसे पहले प्रश्न कर दे इसकी प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है। जिसने पहले प्रश्न किया Initiative उसी के हाथ में रहता है। एक विचित्र प्रश्न हुआ What is that thing which is produced in Europe, manufactured in America, packed up in

Honolulu and sold in Timbaktu. अर्थात् वह कौन-सी वस्तु है जो उत्पन्न होती है यूरोप में, तैयार की जाती है अमरीका में, पैक की जाती है होनोलूलू में और बेची जाती है टिम्बकटू में ?

प्रश्न की ठीक शब्दावली तो मुझे याद नहीं पर वह इसी तरह का कुछ था। हम लोग बड़े असमंजस में पड़े कि क्या उत्तर दिया जाय। हमारी ओर से एक बी० ए० पास सज्जन थे जिन्होंने शायद मेरे प्रदेश में पहले-पहल बी०ए० पास करने का गौरव प्राप्त किया था। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। हम लोग सब पढ़ने से जी चुराते थे, तो हमारे पिता जी उन्हीं का उदाहरण पेश करते थे और वह कहते थे कि देखो वह व्यक्ति जब छुट्टियों में घर आता है तो किस तरह से दूर एकान्त कोठरी में जाकर सरस्वती की साधना करता है। तभी सरस्वती ने प्रसन्न होकर उसके गले में वरमाला डाली है। तुम उसका अनुकरण क्यों नहीं करते। भाग्य से वे भी हमारी Debating Society में उपस्थित थे। उन्हें एक बात सूझी कि इसके उत्तर में एक ऐसा शब्द कहा जाय जो अनर्गल भले हो पर जिसका अर्थ किसी को भी मालूम न हो। उन्होंने चुपके से मेरे कानों में कहा कि कह दे Vicissitude (विसीसीट्यूड)। ज्योंही मैंने उत्तर में इस शब्द का उच्चारण किया हमारे विपक्षी दल वाले शांत हो गये। इस शब्द का अर्थ उन्हें मालूम नहीं था। और वे इस बात को स्वीकार करें कि इस शब्द का अर्थ उन्हें मालूम नहीं तो अपने अज्ञान का ढिंढोरा नहीं पीट सकते थे। यदि अपने अज्ञान को स्वीकार करते हैं तो प्रकारांतर से उनकी हार हो जाती है। अतः चुपचाप हमारे उत्तर के औचित्य को स्वीकार कर लिया और हमारे पक्ष की शानदार विजय हुई। हमने पूछा, Are you satisfied with my answer ? आप मेरे उत्तर से संतुष्ट हैं न ? उत्तर आया, Yes, I am satified. हां संतुष्ट हूं। और सारा खेल समाप्त हो गया।

पर इस बार एक स्पष्ट परिवर्तन दिखलाई पड़ा। वह यह कि कन्यापक्ष की ओर से जो प्रश्न किया गया वह अंग्रेजी में न होकर हिन्दी में था—साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरं का क्या स्थान है ? मैंने उसको बड़ा ही महत्वपूर्ण समझा और महसूस किया कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत की प्रगति के बारे में लोगों के द्वारा भले ही कुछ भी निराशा के भाव व्यक्त किये जाएं पर भारत की आत्मा में स्वतन्त्रता जरूर अपना प्रभाव प्रकट कर रही है। पहले जहां अंग्रेजी में बोलना ही प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता था, वहां आज यह अवस्था तो आ ही गई कि हिन्दी भी उतनी गौरवास्पद है जितनी अंग्रेजी गुलामी के जमाने में थी। हिन्दी के प्रति जनता में कितना उत्साह है यह इससे भी स्पष्ट होता है कि उत्तर के सिलसिले में जब एक ने कुछ अंग्रेजी के वाक्यों का प्रयोग किया तो प्रतिवादी पक्ष की ओर से एक ने तपाक से कहा, Please do not speak in

English । यह वाक्य अंग्रजी में ही कहा गया परन्तु इसके भाव स्पष्ट थे और वे हिन्दी का समर्थन कर रहे थे ।

अंग्रेजी में भी जो कुछ कहा गया वह शोभनीय तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु हम यही कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़े संस्कारों की छाया जल्दी झड़ती नहीं । अंग्रेजी ने हमारी रग-रग में गुलामी का विष प्रविष्ट करा दिया था वह उसी का एक अवशेषमात्र है जो आगे चलकर दूर हो जाएगा । मन में यही हुआ, कौन कहता है कि भारत की आत्मा को स्वतन्त्रता ने प्रभावित नहीं किया है और हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में जनता द्वारा ग्रहण नहीं की जा रही है ? असल में बात यह है कि हम स्वतन्त्र भारत से अधिक प्रगति की आशा करते हैं । चाहते हैं कि पुराणों में जिस भारत की कल्पना की गई है वह पूरी हो जाए । पर परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होता है और इस तरह क्रमशः जो संस्कार ऊपर से उतर कर हमारे जीवन के रक्त का अंश हो जाता है वही वास्तविक उन्नति है । नहीं तो शराब के उबाल की तरह जो उत्तेजना आती है, जो उन्नति का भ्रम उत्पन्न करती है वह बड़ी भयानक है, और अन्ततोगत्वा देश के लिए बहुत मंहगी पड़ती है ।

हिन्दी कथासाहित्य के विकास का चित्र अपने विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित करने की समस्या जब आती है तो मैं यही कहता हूं कि एक ओर लाला श्री निवासदास के 'परीक्षा-गुरु' को रखो और दूसरी ओर अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' को अथवा जैनेन्द्र के उपन्यासों को तो पता चल जायगा कि ७०, ८० वर्षों में ही हिन्दी कथा-साहित्य ने कितनी यात्रा पूरी की है । उसी तरह आप इस समय इन दोनों तरह की घटनाओं को : अंग्रेजी-प्रेम तथा हिन्दी-प्रेम की घटनाओं को (जिनका अभी उल्लेख किया गया है) सामने रखें तो कुछ अनुमान किया जा सकता है कि देश की विचारधारा में किस तरह की क्रान्ति उत्पन्न हो गई है । भले ही आज मुट्ठी भर न्यस्त-स्वार्थ वाले व्यक्ति अंग्रेजी को सिंहासनच्युत तथा हिन्दी को सिंहासनासीन देखकर कुछ कुनमुनाते से दीख पड़ें पर इतिहास के नैसर्गिक प्रवाह को अवरुद्ध करना किसी के बूते की बात नहीं है ।

इसी सम्बन्ध में मुझे एक और दिलचस्प घटना याद आ रही है जो करीब ३०, ३५ वर्ष पहले की होगी । हमारे एक भाई थे रामविभीषण उपाध्याय । वह हमसे बड़े तो थे परन्तु एक तरह से सहपाठी थे और उस जमाने में गरीबी के बीच में पल कर उन्होंने बी० ए० पास किया था जो एक बहुत बड़ी बात थी । उनके परिवार वालों को इस बात का बड़ा गर्व था कि उनका लड़का अंग्रेजी बोलता है । रामविभीषण जी जब छुट्टियों में आते थे तो रामायण का पाठ किया करते थे और उसे सुनने के लिए एकत्र लोगों को रामायण की

चौपाइयों का अर्थ बतलाते थे और हिन्दी में ही बतलाते थे। एक दिन जब वे लोगों को अर्थ समझा रहे थे कि उनके चाचा इन्द्रमणि उपाध्याय आ पहुंचे। आते ही उन्होंने उनके कान पकड़ कर दो तमाचे दिए। "बदमाश कहीं का। मैं तुम्हें अंग्रेजी पढ़ाता हूं सो हिन्दी में बोलने के लिए? अंग्रेजी में क्यों नहीं बोलता बदमाश? मेरा सब व्यय तुमने पानी कर दिया।" और यह कह कर वे उन्हें पकड़ कर सभा से उठाकर ले गए। एक ओर आप इस दृश्य को रखिए और दूसरी ओर इस दृश्य को, पता चल जायगा कि आज भारत की विचारधारा में कितना परिवर्तन हो गया है। चाहे जो कुछ भी हो भारत के हृदय में अंग्रेजी के लिए और अंग्रेजियत के लिए अब वह प्रतिष्ठा नहीं रह सकती जो पहले थी चाहे आज भी कुछ लोग उसके लिए भले ही चिल्लिपों मचायें।

इसी सिलसिले में एक और घटना की स्मृति झांकने लगी है और मैं यह सोचता हूं कि जब घटनाओं को अपने हृदय के रागानुराग से लिपटा कर याद कर ही रहा हूं तो इसकी ओर भी क्यों न स्नेह से देख लिया जाय। न जाने भगवान् की कौन-सी माया है, कौन-सी प्रेरणा है कि यह छोटी-सी निरीह घटना भी स्मृति-प्रवाह, चेतना-प्रवाह में स्थान पाने की मांग करने लगी है, दावा उपस्थित करने लगी है। तब मैं इसकी न्यायोचित मांग को ठुकराऊंगा नहीं। इसका यथोचित आदर-सत्कार करूंगा। न जाने यह हमारे हृदय की गांठ खोलने में कितनी समर्थ हो। जीवन में हम देखते भी हैं कि जहां बड़े से बड़े साधन असफल रहते हैं, अभीष्ट की सिद्धि तक पहुंच नहीं पाते वहां एक छोटी-सी चीज भी कभी-कभी हमारी समस्या को विचित्र ढंग से सुलझा देती है। सम्भव है कि यह भी हमारी आत्माभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करे। अतः इसको भी निरादृत नहीं करूंगा, अनायास ही द्वार पर उपस्थित हो जाने वाले अतिथि को लौटाऊंगा नहीं। इसे दौड़कर गले से लगाऊंगा।

तुलसी या जग आयके सबसे मिलिये धाय।
ना जाने केहि रूप में नारायण मिल जाय॥

यह कहानी मेरे दादा जी ने कही थी। आज से करीब ७०, ८० वर्ष पहले की बात है। वे मैट्रिक में पढ़ते थे। किसी गांव के बालक के लिए मैट्रिक में पढ़ना उस युग के लिए आश्चर्यजनक घटना थी, किसी जादुई करामात से कम नहीं। जब वे छुट्टियों में घर आते तो दूर-दूर के सम्बन्धी उन्हें देखने के लिए आते थे। उनसे तरह-तरह के प्रश्न करते और उनके चमत्कारी ज्ञान की परीक्षा लेते। एक दिन हमारे परिवार के एक सम्बन्धी आए। वे शायद सेना में रहे थे, सूबेदार मेजर या क्या। अंग्रेजों के साथ रहने के कारण अंग्रेजी के कुछ शब्द जानते होंगे तथा अंग्रेजी के दो-चार टूटे-फूटे वाक्य सीख लिए होंगे। यह तो मैं अपने अनुमान से कह रहा हूं। नहीं तो मुझे मालूम नहीं कि वे क्या थे और

कैसे थे। मेरे अनुमान का आधार यह है कि मैंने एक सूबेदार मेजर को देखा था। लहीमशहीम मूर्ति, जब वे सूबेदार मेजर के राजकीय परिधान में सुसज्जित होकर भुजाओं पर तथा सिंहोपम वक्षस्थल पर चमकते तमगे लगाकर, सिर पर रक्तवर्ण उष्णीष धारण कर, पैर में चमचमाते बूट धारण कर उपस्थित होते तो मानो विग्रहवती वीरमूर्ति ही सामने आ जाती। एक बार वे मेरे चाचा को किसी पद-प्राप्ति की संस्तुति करने के लिए जिलाधीश से मिलाने के लिए ले गए थे। उस समय की उनकी दिव्य, भव्य प्रभावोत्पादक मूर्ति आज भी अच्छी तरह याद है। इतने से ही आधार पर मैं अपने दादा के उस सम्बन्धी की रूपरेखा की कल्पना कर सकता हूं जो उनसे मिलने, बातें करने और अंग्रेजी भाषा-ज्ञान की परीक्षा लेने आये थे। दादा ने यों कहानी कही थी।

एक दिन उन सम्बन्धी महोदय ने मुझे बुलवाया। कुछ इधर-उधर की बातें कीं। अन्त में कहा कि एक अंग्रेजी के वाक्य का अर्थ कहो। वाक्य का उच्चारण उन्होंने यों किया—**"परपरेपारकलरी।"** मेरे दादा बेचारे बड़े फेर में पड़े कि यह **परपरेपारकलरी** क्या है? लाख प्रयत्न करने के बाद भी वे इसका कुछ अर्थ नहीं समझ सके और अपने अज्ञान के कारण उन्हें उस समय बड़ा ही लज्जित होना पड़ा। वे सम्बन्धी महोदय भी कुछ ठीक नहीं बता सके। बाद में मेरे दादा जी पुलिस के सेवा-कार्य में सरकारी पद पर नियुक्त हुए तब उन्हें इस **परपरेपारकलरी** के अर्थ का ज्ञान हुआ। अरे यह तो कुछ नहीं Prepare for Cavalry का ही विकृत रूप था।

इन बातों के उल्लेख करने का कारण यही है कि यद्यपि मैं बरात में हुए वाद-विवाद को कुछ समझ तो सका परन्तु मेरे साथ अच्छा दुभाषिया रहता तो मैं अधिक लाभान्वित होता। इस तरह के अनेक छोटे-मोटे उदाहरण सामने आये जब कि एक अच्छे दुभाषिये का अभाव मुझे खटका।

मनुष्य के जीवन में अनायास ही तरह-तरह की कथाएं उसके व्यक्तित्व के साथ संलग्न हो जाती हैं। जनता की कल्पना बड़ी उर्वर होती है। किसी छोटे से बीज के आधार पर एक बड़ी लम्बी-चौड़ी इमारत खड़ी कर लेना उसके लिए बाएं हाथ का खेल होता है। आज हम न जाने कितनी ही दन्त कथाओं को सुनते हैं और आश्चर्यचकित होते हैं। कौतूहल से भर जाते हैं और उनकी कल्पना की उड़ान पर मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। यदि हम अपने जीवन को ही देखें तो पायेंगे कि हमारे जीवन काल में ही जन साधारण की कल्पना ने हमारे सम्बन्ध में न जाने कितनी दन्त-कथाओं की सृष्टि कर दी है। साधारण वार्तालाप की शब्दावली में जिसे हम Scandal कहते हैं और जिसमें तिल का ताड़ बनाया होता है वह जनसाधारण की कल्पना-करामात नहीं तो और क्या है। इसी ने महात्मा गांधी और नेहरू

के जीवन में कितनी अद्‌भुत कथाओं को गढ़कर समाविष्ट कर दिया है ।

यह तो साधारण-सी सब की जानकारी की बात है कि लोगों में यह बात प्रचलित थी कि पंडित मोतीलाल नेहरू के कपड़े पेरिस से धुल कर आते थे । यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि इसमें सत्यता का अंश कितना है । साधारण और अप्रौढ़ मस्तिष्क की उच्छृंखल उद्दाम प्रवृत्ति का ही उत्पात कहकर हम इस पर सन्तोष नहीं कर सकते । यह प्रवृत्ति मनुष्यमात्र में जन्मजात है । यदि हम आज के शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्तियों के भी व्यवहार को देखें तो भी यह बात स्पष्ट होगी । मैं पूछता हूं कि आजकल अखबारों के स्तम्भों में जिस तरह के समाचार प्रकाशित होते हैं, किसी घटना को तोड़मरोड़ कर एक खास ढंग से रखने की चेष्टा की जाती है वह क्या है । इसको और जनसाधारण की काल्पनिक उड़ान को यदि आमने-सामने रखकर देखें तो दोनों की समान-जातीयता और समानधर्मिता प्रकट हो जायेगी और दोनों एक जाति की ही चीज मालूम पड़ेंगी । बाह्य रूप में भले ही कुछ अन्तर दिखलाई पड़े ।

इसी तरह की कुछ बातें अपने जीवन में भी मैंने इस बार जुड़ती हुई देखीं । यों तो इस तरह की बातें बार-बार सुनता हूं, जब घर जाने का अवसर मिलता है । परन्तु इस बार इसको एक विशेष रूप में दन्तकथाओं का रूप धारण करते हुए पाया । कई बार कितने नवयुवकों से मैंने अपने को यह पूछे जाते हुए पाया कि रामगुलाम से मिलने नहीं चलियेगा ? मैंने जब-जब यह बात सुनी मेरे मन में बाल्यकाल की उन अनेक दुष्ट क्रीड़ाओं तथा खेलों की बातें स्मरण हो आईं । ये आज कुछ मनोरंजक लगती हैं क्योंकि काल ने उनकी कटुताओं को बहुत कुछ धो-पोंछकर साफ कर दिया है । परन्तु जिस वक्त ये घटनाएं घटी थीं उस समय उतनी ही गंभीर थीं जितनी आज की कोई महत्वपूर्ण और जीवन की संकटापन्न स्थिति हो सकती है ।

घटना यों है जिसका मैं आज बहुत ही भावभरे हृदय से स्मरण कर रहा हूँ और काल-प्रवाह में उठती हुई उन छोटी-छोटी तरंगों की सुन्दरता या विचित्रता पर मुग्ध भी हो रहा हूं । मैं यह मालूम करता हूं कि तटस्थता पूर्वक देखने से कोई चीज इतनी महत्वपूर्ण हो जा सकती है । कई बार पुस्तकों में पढ़ा है कि किसी चीज को जरा तटस्थ होकर देखने पर disinterested view लेने पर वह चीज महत्वपूर्ण रूप में दिखलाई पड़ने लगती है । पर यह बात समझ में नहीं आती थी । अलंकार शास्त्र में जब से व्यक्तित्व से विच्छिन्न साधारणीकरण की बात पढ़ता था तो भी यह स्पष्ट नहीं होता था । एक बार मैंने किसी के द्वारा यह बात सुनी थी, सुनी क्या थी लेख में पढ़ी थी कि लेखक को एक दिन किसी बिच्छू ने डंक मार दिया, बड़ा दर्द होने लगा, परन्तु जब उन्होंने तटस्थभाव से सारी घटना पर विचार करना प्रारम्भ किया और यह

सोचकर देखने लगे कि भगवान् ने उन्हें एक ऐसा अवसर दिया है कि वे इस बात को अच्छी तरह से जान सके कि बिच्छू के काट लेने पर किस तरह जहर चढ़ता है और मनुष्य की क्या अनुभूति होती है, उस पर विचार कर सके तो उनका दर्द बहुत कुछ सहज हो गया।

यह लेख काका कालेलकर का था जिसमें उन्होंने कला के प्रयोजन पर विचार प्रकट किये थे। चूंकि वह लेख भाग्यवश मेरे सामने है अतः सोचता हूं कि उसमें की संगत पंक्तियों को ही उद्धृत क्यों न करूं। मैं आप से कह ही आया हूं कि सुव्यवस्था मेरे स्वभाव में नहीं है। मेरी चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी रहती हैं। ऐन मौके पर जब उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता होती है वे खो जाती हैं, लाख ढूँढते रहने पर भी नहीं मिलतीं। जब उनकी आवश्यकता न हो तो वे आंखों के सामने बिछी रहती हैं। वस्तुओं के इस अटपटेपन के कारण, उनकी इस बेढंगी नीति के कारण न जाने कितनी बार बहुत ही महंगी कीमत देनी पड़ी है। पर आज यह लेख सामने है और अपने को उद्धृत किये जाने के लिए मूक निमंत्रण देकर मेरी हृत्तंत्री के तार को झंकृत कर रहा है तब इसकी मांग को किस तरह ठुकराऊं। अतः इसको उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। वे लिखते हैं, "यहां तटस्थता और उसके परिणाम का एक उदाहरण देता हूं। एक बार मैं अपने मित्र से मिलने के लिए एक गांव में गया था। वहां मुझे एक बड़े बिच्छू ने डंक मार दिया, दवा न मिली, जहर चढ़ने लगा। अब क्या किया जाय ? एक उपाय सूझा। यह सोचकर कि बिच्छू का जहर कैसे चढ़ता है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण करने का यह अच्छा मौका हाथ लगा है और मानो किसी दूसरे आदमी को दर्द हो रहा है और दर्द के अंश-अंश समझने और देखने की शक्ति ईश्वर ही की कृपा से मिली है,—ऐसी तटस्थता से उस जहर के असर की लहरों के आक्रमण की मैं जांच-पड़ताल करने लगा। इन लहरों में ज्वारभाटा है, अब दर्द यहां तक पहुंचा, अब यहां तक,—इस तरह ज्यों-ज्यों तटस्थ भाव से उसका निरीक्षण करता गया, त्यों-त्यों पीड़ा सह्य होती गई। इतना ही नहीं, उस पीड़ा में कुछ मजा भी आने लगा और अन्त में नींद आने में कोई कठिनाई नहीं हुई।"

बहुत से विनोदप्रिय लोग अपनी फजीहत का तटस्थ-भाव से आनन्द ले-लेकर वर्णन करते हैं और बिना पक्षपात के अपने संस्मरण लिखते हैं। यह भी तटस्थ भाव का उदाहरण है। उसी तरह मैं उतनी तटस्थता का दावा तो नहीं करता पर काल ने जो मुझे तटस्थ कर दिया है और इस घटना से मेरे व्यक्तित्व को हटा दिया है तो वह बात भी मेरे लिये सुखद बन गई है।

बात यह है कि बचपन में जिस वातावरण में हम लोग पल रहे थे वह सामन्त युग का भग्नावशेष था जिसमें झूठी शान-शौकत का बोलबाला था

और दूसरों के परिश्रम पर भोग-विलास में निरन्तर रहना ही जीवन की सार्थकता समझी जाती थी। हम लोग किसी बड़े धनाढ्य परिवार के सदस्य तो थे नहीं परन्तु आनबान वही रहती थी। गांव में अपेक्षाकृत हम लोग सम्पन्न थे और ब्राह्मणकुलोत्पन्न होने के कारण हम लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ी-चढ़ी थी। छोटी जातियों को हिकारत की नजर से देखना, उन्हें तुच्छ समझना तथा उनका मनमाना उपयोग करना तथा अपनी इच्छानुसार उनसे सेवा लेना और आदर प्राप्त करना हम लोग अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। आशा करते थे कि जब हम कहीं से होकर निकलें तो यह तथाकथित छोटी जाति के व्यक्ति अपना आसन छोड़कर उठ जाएं और इस तरह हमारे प्रति आदर के भावों का प्रदर्शन करें। इसी तरह का एक स्वर्णकार जाति का व्यक्ति था उसका नाम था रामगुलाम। हम लोगों का एक आम का बगीचा था जिसे अहीर बगिया कहा करते थे। इस नाम का इतिहास भी विचित्र है। कहा जाता है कि प्राचीन-काल में यह बगीचा अहीरों का था। एक बार उन लोगों के बीच अकाल पड़ा और वे लोग भूखों मरने लगे। हमारे पूर्वजों ने उन्हें एक दिन सत्तू खिलाकर उसी के बदले में यह बगीचा ले लिया। यह बात कहां तक ठीक है पता नहीं, परन्तु इतना तो अवश्य निश्चित है कि इस बगीचे से कभी-न-कभी किसी तरह अहीरों का सम्बन्ध था।

इसी बगीचे के पास रामगुलाम का भी बगीचा था जिसकी रखवाली करने के लिए वह भी जाता था। पास ही में सटी हुई उसकी एक फुलवारी थी जिसमें एक कुआं भी था और एक नींबू का पेड़ भी था। हम लोग स्नान इत्यादि करने के लिए उस कुँए पर जाते थे और कभी-कभी उसके नीबुओं को भी तोड़ लेते थे। इसलिए वह मन-ही-मन नाराज रहता था। हम बच्चे भी उससे बहुत नाराज रहते थे। नाराजगी का कारण यह था कि जब हमारे पिता जी या चाचा जी इधर से होकर निकलते थे तो वह अपना आसन छोड़ कर उठ जाता था और सिर झुकाकर उन्हें अभिवादन करता था। पर हम लोग जब कभी सामने से भी निकलते तो वह कभी भी न तो आसन छोड़ता और न हम लोगों के लिए सिर ही झुकाता। यह हम लोगों का अपमान था। हम लोग मन-ही-मन यह षड्यन्त्र रचा करते कि कोई ऐसा अवसर मिले जिसमें इससे इस अपमान का बदला चुकाया जाय और उसे इस बात का पाठ पढ़ाया जाय कि बड़ों के निरादर का क्या परिणाम होता है। पर ऐसा कोई अवसर हाथ आता नहीं था।

एक दिन मैं अकेला उसकी फुलवारी के कुंए पर स्नान करने के लिए गया। स्नान करने के बाद नीबू के पेड़ के नीचे जाकर यह देख रहा था कि कौन-सा अच्छा पका हुआ नीबू है जिसे तोड़कर ले जाया जाए। इन सब गति-

विधियों का अवलोकन रामगुलाम अपने मकान पर बैठा कर रहा था। उसने वहीं से पुकारकर कहा, "ए जी, देखो अभी नीबू मत तोड़ना, पके नहीं हैं, पकने पर मैं स्वयं तोड़कर तुम्हें दे दूंगा।" मुझे यह बड़ा ही अपमानजनक मालूम हुआ। एक तो मैं पहले से ही खार खाए बैठा था तिस पर यह "अयं गंडस्योपरि विस्फोटः" अतः मिजाज तिलमिला गया। मैंने कहा, "देखो जी, अब तक तो मैं नहीं तोड़ता पर अब अवश्य ही तोड़ूंगा।" इस पर वह व्यक्ति अपने स्थान को छोड़कर मेरे समीप आ गया और न जाने उसके मन में क्या था कि उसने एक पत्थर उठा लिया था। हो सकता है मुझे धमकाने के लिए हो। मैं यह बात आज के अनुभवों से कह रहा हूं। नहीं तो उस वक्त तो मेरे प्रति आक्रमणात्मक अत्याचार-सा ही मालूम पड़ रहा था।

उसकी भयंकर मुद्रा को देखकर मुझे बड़ा डर लगा और अपने Adventure को छोड़कर मैं म्लानमुख बाहर निकला और मन में इन घड़ियों को कोसने लगा जिनमें मुझे इस तरह एक छोटे-से स्वर्णकार के अदने से बच्चे के हाथों बेआबरू होकर निकलना पड़ा। सोचता था कि आज हमारी रही-सही प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल गई। तब तक परिस्थितियों ने विचित्र मोड़ लिया। उसकी फुलवारी की सीमा से ज्योंही मैं बाहर आया त्योंही न जाने किस भावना से प्रेरित होकर उसने कहा—"यदि तुमने आज नीबू तोड़ा होता तो मैंने तुम्हारी जरा भी इज्जत नहीं छोड़ी होती।" बस यह क्या था, इसने तो हमारी क्रोधाग्नि को घृत की तरह प्रज्वलित करने का काम किया। न जाने मुझ में कौन-सी शक्ति का उबाल आया। मैं तीर की तरह टूटा और पीछे से कमर पकड़कर उसे नीचे गिरा दिया और मारना शुरू किया। मैंने उसे नीचे गिरा तो दिया लेकिन मैं जानता था कि यदि वह किसी तरह उठ जायेगा तो क्रोध में आकर मेरा कचूमर निकाल देगा। अतः उसे ऊपर नहीं उठने देता और खूब जोरों से चिल्लाता था।

वह लोगों को अपनी सहायता के लिए पुकार रहा था और मैं यों चिल्लाता था कि मेरे चाचा वहीं कुछ दूर पर हैं। वे चिल्लाहट सुन कर अवश्य दौड़े-दौड़े आ जाएंगे और उनकी उपस्थिति में कम से कम रामगुलाम को मुझे मारने की हिम्मत नहीं पड़ सकेगी। रामगुलाम मुंह के बल गिरा था और जब मुझे क्रोध आया तो मेरे मनोविज्ञान ने कुछ दूसरा ही रूप धारण किया। मैं यह नहीं जानता कि क्रोध में आकर किसी को मारने का मनोविज्ञान दूसरों का क्या है परन्तु मेरा तो अनुभव यही है कि क्रोधावेश में आकर यदि किसी को मारने के लिए हाथ छूट गया तो छूट गया। वहाँ पर मुक्केबाजी की परम्परा का अन्त नहीं होता। एक मुक्का दूसरे मुक्के को उत्पन्न करता है और दूसरा तीसरे को। इस तरह वह स्थिति आ जाती है जिसे संस्कृत नैयायिकों ने अन-

वस्था दोष कहा है, ठीक वही स्थिति हो जाती है। मैंने उसे चित्त कर दाँतों पर मारना चाहा जिससे उसके दाँत भुरकुस हो जाएँ। अतः मैंने नीचे से हाथ लगाकर उसे उलटना चाहा। हमारी दाहिनी भुजा जो उसके दाँतों के तले आई तो उसने इतने जोरों से काटा कि आज भी उसका दाग मेरी दाहिनी कलाईपर मौजूद है। किसी आशिक के कलेजे के घाव के दाग़ की तरह और जब मैं उसकी ओर देखता हूं तो स्मृतियों की एक विशाल परम्परा झंकृत हो उठती है।

जैसा मैंने निवेदन किया कि रामगुलाम को मैंने दाँतों पर मुक्के से मारना प्रारम्भ किया और जब मुक्केबाजी शुरू हुई तो उसकी परम्परा कब खतम हुई यह पता नहीं। शायद इस क्रिया का स्वरूप एक ही तूफान में आया था, किश्त-दरकिश्त नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह हमारे बाल्य रण-क्षेत्र का गीतिकाव्य था, महाकाव्य नहीं। गीति काव्य में जो भावनाएं आती हैं वे एक ही उफान में आकर अपने स्वरूप का निर्माण कर समाप्त हो जाती हैं, ठहर-ठहर, कर, रुक-रुककर नहीं आतीं जैसा कि महाकाव्य में होता है। हमने संस्कृत अलंकार शास्त्र में शब्दशक्तियों का अध्ययन करते समय दो वाक्य पढ़े थे, "**शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः**" और दूसरा "**इषुभिरिव दीर्घ-दीर्घतरः व्यापारः**"। यदि अलँकारशास्त्रियों की शब्दावली में अपनी वीरोचित साहसिक धृष्टता की व्याख्या करने लगूं तो इसकी व्याख्या करने के लिए पहला ही वाक्य रखूंगा। और इस तरह अपने को ध्वनिवादियों का समर्थक ही प्रमाणित करूँगा।

इस घटना की आलोचना करते ही मुझे उन दिनों की एकाध और भी बहुत मनोरंजक और दिलचस्प घटना की स्मृति, मनोविज्ञान के साहचर्य सूत्रों के द्वारा हो आती है। इस घटना की याद आने का एक कारण यह है कि अभी मैंने गीति-काव्य की बात कही है। पर मेरा अतीत गीति काव्यों का ही थोड़े बना है, उसमें प्रबन्ध काव्य भी है। यह घटना जिसका उल्लेख कर रहा हूं वह महाकाव्य तो नहीं पर खण्डकाव्य जरूर है। इसमें रामगुलाम वाली घटना की उग्र तात्कालिकता नहीं थी। यह एक सुनिश्चित योजना थी और कितने दिनों तक चलती रही।

हमारे गाँव के बालकों के दो दल थे। मुझे ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में दलों और गाँवों के टर्म्स में सोचने की प्रथा थी। लोगों की दृष्टि में वह व्यापकत्व और सामूहिकता के भाव जागृत नहीं हुए थे। लोग सदा गुण्डी (एक गाँव का नाम) बभंनगाँवा (मेरे जन्म ग्राम का नाम) की दृष्टि से सोचा करते थे। हम लोगों के बड़े-बड़े दादा वगैरह हम लोगों से वैसी ही कहानियां कहा करते थे जिनके द्वारा अन्य ग्रामों के प्रति विरोध की भावना ही जागृत हो। हम से कहा जाता था कि हमारे अमुक पूर्वज ने किस तरह

अमुक गाँव से किसी समस्या को लेकर घमासान युद्ध किया, लाठियाँ चलीं, तलवार और भाले चले और किस तरह अपने रण-कौशल से उन लोगों को पराजित किया गया। परिणाम यह होता था कि बच्चे जहां कहीं भी अन्य गांवों के बच्चों को देख लेते थे तो हमारे हृदयों में वही वैर के भाव तरंगित होने लगते थे और हम लोग एक-दूसरे से दो गांवों—दो वैरी गाँवों के प्रतिनिधि के रूप में झगड़ पड़ते थे।

उसी तरह मेरे गांव में भी दो दल थे जिसका बीज अभी भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। दो दलों का नाम मुहल्ले के नाम पर चौक और पश्चिम टोला है। चौक के अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और दूसरों को अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। सम्भव है कि जब बाहर से आकर वे लोग हमारे गांव में बसने लगे हों उस वक्त चौक में ही पहलेपहल उन्होंने अपनी अवस्थिति की हो और सम्भवतः वे लोग अपेक्षा-कृत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न भी रहे हों। शायद पश्चिम टोले में रहने वाले लोग बाद में आये और शायद उतने सम्पन्न भी नहीं थे, परन्तु उनमें अपनी स्थिति को सुधारने की महत्वाकांक्षा अवश्य काम करती थी और इसी ऐतिहासिक मूल में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के बीज बो दिये गए होंगे जिसका परिणाम आज भी किसी न किसी रूप में क्रियाशील है। इसी तरह से गाँव में पूर्व टोला नामक एक मुहल्ला भी है। वहां के लोगों की विचारधारा भी कुछ इसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता लिए हुए रहती है। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। भारतीय इतिहास के पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि आर्य भी भारतवर्ष में कितने दलों में बारी-बारी से आये और उन दलों का इतिहास सदा पारस्परिक संघर्षों का इतिहास रहा है। यही बात किसी ग्राम के इतिहास में भी छोटे पैमाने पर दिखलाई पड़ती है।

कहने का अर्थ यह है कि आज जिस विकसित रूप में एकता के भाव संगठित रूप में दिखलाई पड़ते हैं पहले ऐसी बात नहीं थी। हां, राष्ट्रीयता की कल्पना जरूर उच्चवर्ग के मनुष्यों में जागृत हो गई थी और वे एक सम्पूर्ण भारत का चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करने लगे थे और तीर्थों तथा मंत्रों के द्वारा उस भाव को लोगों के हृदय में दृढ़तापूर्वक स्थापित कर देने की चेष्टा भी करते थे। परन्तु ये भाव भी आज की तरह विकसित नहीं हुए थे। आज जब मैं अपने गांव को देखता हूं और वहां के नवयुवकों से वार्तालाप करता हूं तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे अब इस संकुचित भावना से ऊपर उठ रहे हैं और एक व्यापक पट-भूमि पर ही विचार करते हैं। पर जिस समय की बात मैं कर रहा हूं उस समय यह बात नहीं थी और हम लोग अपना-अपना दल बनाकर ही अपना काम करते थे। अतः सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो इस तरह की भावना का विकास बड़ा ही शुभ लक्षण है। यदि भारत

में स्वतन्त्रता के पश्चात् और कुछ भी विकास न हुआ हो और दूसरी बातों में गिरावट ही आई हो तो भी हम इतने से मूल्य पर उसे खरीदने के लिए तैयार हैं।

अस्तु, हम बच्चों के दो दल थे और हम लोग एक-दूसरे को हर तरह से पराजित करना या तंग करना चाहते थे। पर प्रश्न यह था कि किस तरह से तंग किया जाय। यों दिन में बाग-बगीचों में या खेतों में जब कभी मिल जाते तो झड़प हो जाती थी, लाठा-लाठी हो जाती या पत्थर वगैरह चल कर कांड समाप्त हो जाता। पर इतने से शत्रु पराजित होता हुआ नहीं दिखलाई पड़ता था। अतः वार कौन्सिल (युद्ध समिति) में यह तय हुआ कि अपने शत्रुओं के गढ़ पर सीधे आक्रमण किया जाय क्योंकि युद्ध की नीति के अनुसार आक्रमण रक्षा का सर्वोत्तम रणकौशल है और शत्रुओं का घर ही हमारी पहली रक्षापंक्ति (लाइन आफ डिफेन्स) है। समझबूझ कर निश्चित हुआ कि सन्ध्या को हम लोग बहुत से ईंट और पत्थर एक गुप्त स्थान पर एकत्र कर लें। रात को हम और एक मित्र जिनका नाम भगेलू था दोनों मित्र अपने प्रपितामह जी के साथ ही सोते थे। वे अत्यन्त वृद्ध थे शायद रात को उन्हें कम दिखलाई पड़ता था और वे सुनते भी शायद कम थे। जब वे प्रगाढ़ निद्रा में सो जाते तो हम लोग अपने पूर्व नियमानुसार उठते और झोली में ईंट और पत्थरों को लेकर अपने शत्रुओं के छप्पर पर जाकर फेंक आते। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जर्मनों के हवा-बाज अपने वायुयानों के द्वारा इंग्लैण्ड पर बम वर्षा कर आते थे और सही सलामत अपने स्थान पर लौट आते थे। हम भी ईंट और पत्थर रूपी बम्बों को लेकर शत्रुओं के सैनिक गढ़ अर्थात् छप्परों पर उन्हें बरसा कर रक्षापंक्ति को चूर-चूर कर देने का आनन्द उठाते थे।

ईंट रूपी बम की वर्षा होते ही कोलाहल होता और जागरण हो जाता, 'पकड़ो पकड़ो' की आवाज होती परन्तु रक्षा करने वाले वायुयान के आकाश में उठने के पहले ही हम लोगों का आक्रमण करने वाला बमवर्षी वायुयान अपने स्थान पर लौट आता और हम लोग पुनः अपने वृद्ध प्रपितामह के पास जाकर सो जाते। यह क्रम कुछ दिनों तक चला। पहले तो किसी को कुछ पता नहीं चला पर बाद में किसी न किसी तरह बात फूटी जरूर और लोगों में हम लोगों को लेकर कानाफूसी प्रारम्भ हुई। बात यह थी कि हम लोग अपनी बदमाशियों के लिए तो पहले से ही बदनाम थे। इधर बम वर्षा होने के बाद दूसरे दिन जब अखबारों में इसके समाचार छपते अर्थात गाँव की जनता में यह खबर फैलती तो तरह-तरह के विचार-विनिमय के बाद और तरह-तरह के तर्क-वितर्क के बाद लोग हम लोगों तक पहुंच जाते और अनुमान करते कि हो न हो हम लोग इसके मूल में हैं। अंत में यह अवस्था भी आयी कि हमारे

विरोधी लोग जिनको हमारी बम-वर्षा ने क्षति पहुँचाई थी उलाहना लेकर हमारे प्रपितामह जी के दरबार में पहुंचे जिस तरह आज के पीड़ित देश अपनी फरियाद लेकर युनाइटेड नेशन्स में जाते हैं और न्याय की अपील करते हैं।

हमारे प्रपितामह गाँव के सर्वश्रेष्ठ वयोवृद्ध और निष्पक्ष नेता समझे जाते थे और सब कोई उनसे न्याय की आशा करते थे और उनके फतवे सर्वमान्य भी होते थे। ठीक यदि भारत के इतिहास से हम बाल्यकाल के साहसिक कार्यों के इतिहास के तोल पर कोई घटना बैठाना चाहें तो भारत द्वारा पाकिस्तान के काश्मीर पर आक्रमण की शिकायत जिस तरह यूनाइटेड नेशन्स में लायी गयी है उसी को हम रख सकते हैं। हमें आक्रमणकारी पाकिस्तानी समझ लीजिए। हमारे शत्रुओं को भारत तथा हमारे वृद्ध प्रपितामह को यूनाइटेड नेशन्स की सिक्योरिटी कौंसिल का सभापति। जब उलाहना लेकर हमारे प्रपितामह जी के सामने लोग आये तो वे बड़े आश्चर्य चकित हुए और बड़े दुःख के साथ उत्तर देने वालों से बोले—देखो दोनों मासूम बच्चों पर इतना बड़ा इलजाम लगाकर तुम लोग गौहत्या की तरह पाप कर रहे हो, ये दोनों बच्चे तो रात भर हमारे साथ सोये हुए रहते हैं। यह कैसे और कब छप्परों पर पत्थर फेंकने के लिए जा सकते हैं। तिस पर भी यह लड़का (मेरी और संकेत था) पढ़ा-लिखा है। एन्ट्रेंस में पढ़ता है। आज इस प्रदेश में इसकी तरह सुशील बालक कहीं नहीं है। भला इसे मैं कैसे अपराधी मान लूं। यदि तुम लोग इसको (श्यामराज उपाध्याय को) दोषी ठहराते तो एक क्षण के लिए मानने की बात हो सकती है क्योंकि वह स्वभाव से भी लंठ है। यह हमारे पक्ष में सब से बड़ा तर्क था जिसका उत्तर किसी के पास नहीं था और हम लोग इस न्यायालय में सर्वदा निर्दोष करार दिए जाते। ठीक उसी तरह जिस तरह आक्रमणकारी होते हुए भी युनाइटेड नेशन्स पाकिस्तान को अपराधी नहीं ठहरा पाता।